सिद्धयोग

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन संवाई, आगरा

इस अंक के लेख—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवाई
आगरा

★ कस्मै देवाय हविषा विधेम (प्रार्थना) १
★ श्रद्धा का महत्व (विशेष लेख) २
● योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
★ संकल्प ६
● श्री स्वानन्द दीपक
★ ज्ञान और ध्यान
● आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
★ श्रेष्ठतम् कर्म यज्ञ का रहस्यमय विज्ञान १३
● श्री डॉ० ओमप्रकाश
★ जीवित कौन ? १६
● श्री विष्णुप्रसाद व्यास
★ आसन प्राणायाम और प्रत्याहार १८
● श्री वैद्य रामरतन शास्त्री
★ स्वाध्याय धर्म २१
● एक योग साधक
★ धर्मशासित जीवन २५
● श्री दर्शनानन्द
★ आत्मवत् सर्व-भूतेषु २६
● डा० राजकुमारी त्रिखा
★ सिद्धों एवं योगियों की अलौकिकता ३१
● श्री कृष्णकुमार पाण्डेय
★ अस्मिता से सम्बन्धित प्रबोधक कथायें ३३
● श्री डा० विजयसिंह
★ श्री गुरुदेवजी द्वारा राजेश के बैल की रक्षा ३८
● श्री केशवदेव उपाध्याय
★ पुराण परिचय ४३
● श्री प्रो० माधव अनन्त फड़के
★ भक्त वत्सल भगवान और भक्त नामदेवजी ४६
● श्री रामवृक्ष त्रिपाठी

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

जौलाई
१९८८

वार्षिक मूल्य २० रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, छवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २१ अङ्क ४	ध्यायं ध्यायं पवित्रं परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्तिं प्राप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थं बहुविधं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥	जौलाई १९८८

कस्मै देवाय हविषा विधेम

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक,
इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः,
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुः अ० २३। मन्त्र १२

अर्थात्

जो प्राण वाले और अप्राणिरूप जगत् का अपने अनन्त महिमा से एक ही विराजमान राजा है। जो इस मनुष्यादि और गौ आदि प्राणियों के शरीर की रचना करता है हम लोग उस सुख स्वरूप सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा के लिए अपनी सकल उत्तम सामग्री से विशेष भक्ति करें।

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

★

★

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि-
प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।
—समाधिपाद-२०

❋

श्रद्धा का महत्व

यों तो प्रत्येक मनुष्य के जीवन में श्रद्धा गुण का होना श्रेयस्कर रहता है, किन्तु योग-साधकों और योगियों के जीवन में श्रद्धा अनिवार्य रूप से अवस्थित रहनी ही चाहिए, ऐसी मान्यता है ऋषियों, मुनियों, विद्वानों और सिद्ध योगियों की। 'सिद्धयोग' के अपने विशेष लेखों में भी हमने श्रद्धा और उसकी महत्ता पर अपने विचार पहले प्रकट किये हैं, आज और भी अधिक विस्तार से हम अपने इस लेख में श्रद्धा और उसकी महत्ता एवं स्वरूप की व्याख्या कर रहे हैं, ताकि योग-साधक अपने को श्रद्धा समन्वित बनाकर ? सुगमता से अपने पुरुषार्थ सिद्धि के लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

योग-दर्शन के समाधि पाद के सूत्र संख्या २० वें में कहा गया है :—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।

अर्थात् जिनका उपाय प्रत्यय है उनको ? श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा इन सब उपायों द्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

सूत्र में उपर्युक्त इन सब उपायों में श्रद्धा को प्रथम स्थान पर रखा गया है। यह शब्द संयोजन क्रम भी श्रद्धा के प्रथम स्थान पर रखना उसकी प्रमुखता एवं महत्ता का ही परिचायक है।

आइये, भगवान् पतञ्जलिदेव के इस सूत्र पर पहले हम पढ़ें भगवान् व्यासदेवजी की व्याख्या। वे लिखते हैं—

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्धानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहित चित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्तते। येन यथावद्वस्तु जानाति तदभ्यासात्तत्तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

यानी योगियों का उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि होता है। श्रद्धा चित्त का सम्प्रसाद है। वह योगी का

कल्याणी माँ के समान पालन-पोषण करती है। श्रद्धायुक्त विवेकार्थी साधक में वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्यमान की स्मृति उपस्थित होती है। स्मृति की उपस्थिति से चित्त अनाकुल (प्रशान्त) होकर समाहित होता है। समाहित चित्त की प्रज्ञा में विवेक यानी विशिष्टता उत्पन्न होती है। इस विशिष्टता अथवा विवेक से योगी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। इसी विवेक अथवा विशिष्टता के अभ्यास से तथा उस चित्त के विवेक वैराग्य सम्पन्न होने से असंप्रज्ञात समाधि सुलभ होती है।

भगवान् व्यासजी ने अपने भाष्य में यह स्पष्ट किया है कि वस्तुत: श्रद्धा ही योगी को असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त कराने में मुख्य आधार बनती है। वह माता के समान पालित-पोषित करके संकट और आपदाओं से बचाती हुई साधक को अभीष्ट की उपलब्धि करा देतीहै। श्रद्धा समन्वित होनेसे ही मनुष्य वीर्यवान् और विवेकवान् बनता है। योग-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज ने भी गीता में यही कहा है कि "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।" श्रद्धावान् व्यक्ति ही उस पावन ज्ञान को प्राप्त करते है कि जिसके समान संसार में अन्य कोई भी वस्तु पवित्रतम नहीं है। यथा—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

—गीता

भगवान् श्रीकृष्ण 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' केवल इतना ही नहीं कहते, बल्कि इससे आगे वे स्पष्टता से यह भी कहते हैं कि प्रज्ञा विवेक अथवा ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धावान् होना ही पर्याप्त नहीं है अपितु साधक को तत्पर: संयतेन्द्रिय भी होना चाहिए। जिसमें तत्परता और इन्द्रियों के संयम करने की क्षमता का अभाव है वह श्रद्धावान् हो ही नहीं सकता। अत: कल्याणकारिणी श्रद्धा माता साधक के मन आंगन में रमी रहे, इसके लिए साधक को अपनी यौगिक भूमिकाओं पर श्रद्धा से जमे रहने के लिए अपने को संयतेन्द्रिय बनाये रखने का सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए।

अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने श्रद्धा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए उसे विस्तार से समझाते हुए कहा—हे अर्जुन! इस सारतत्व को तुझे भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि श्रद्धा भी सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन गुणों से आवृत्त रहा करती है। यथा—

त्रिविधा भवति श्रद्धा,
देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव,
तामसी चेति तां शृणु॥

अर्थात्—यह स्वभाव-जन्य होती है। जन्म-जन्मान्तर में किये हुए धर्म, अधर्म आदि के संस्कार मृत्यु के समय प्रकट हुआ करते हैं। उनके समुदाय का नाम स्वभाव है, उससे उत्पन्न हुई श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, सात्त्विकी, राजसी और तामसी, जैसा कि ऊपर भी कहा गया है। प्राणियों के जैसे संस्कार होते हैं, वैसे ही उनके अन्त:करण हुआ करते हैं।

सत्वानुरूपा सर्वस्य,
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयो अयं पुरुषो,
यो यच्छ्रद्ध: स एव स॥

—गीता

अर्थात् हे अर्जुन सुन! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्त:करण के अनुरूप हुआ

करती है। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वह पुरुष वैसा ही होता है। इसीलिए तो पुरुष को श्रद्धामय कहा गया है। यानी अपनी श्रद्धा के अनुसार ही वह सात्विक, राजस और तामसी वृत्ति वाला कहा जायगा।

योग-पथानुगामी साधक सदैव सात्विक श्रद्धा से समन्वित रहने का प्रयत्न ही करते रहते हैं। वे अपने आहार-विहार, आचार-विचार सबमें सात्विकता के नियमों के परिपालन का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। स्वाध्याय, मंत्र जप, तप और वैराग्य की साधना द्वारा वे अपने विपरीत राजसी और तामसी संस्कारोंके बीजोंको दग्धबीज रूपमें परिवर्तित करने का सदा प्रयास करते रहते हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य रहता है-मेरा मन सदा शिव-संकल्पों से भरा रहे, 'तन्मे मनः शिवसंकल्प मस्तु' ताकि तामसी और राजसी वृत्तियों को अन्तःकरण में बैठ पाने का अवसर ही न मिले। यम-नियम के परिपालन का सतत् ध्यान रखने से तथा गुरु-मन्त्र का जप करते रहने के अभ्यास को दृढ़ से दृढ़तर बनाने के प्रयास भी सात्विक श्रद्धा के निर्माण का अच्छा आधार बन सकते हैं।

श्रद्धा की महत्ता के सम्बन्ध में हरिवंश पुराण का मन्तव्य भी पठनीय है जो व्यास-भाष्य के ही समर्थन में है—

श्रद्धैव सर्वधर्माणां,
मातेव हितकारिणी।
श्रद्धैव नृणां सिद्धि-
र्जायते लोकयोर्द्वयोः॥
श्रद्धया भजतः पुंसः,
शिलापि फलदायिनी।
मूर्खोऽपि पूजितो भक्त्या,
गुरुर्भवति ज्ञानदः॥
श्रद्धया भजतो मन्त्र-
स्त्वसद्धोऽपि फलप्रदः।
श्रद्धया पूजितो देवो,
नीचस्यापि वरप्रदः॥
अश्रद्धया कृता पूजा,
दानं यज्ञस्तपो व्रतम्।
सर्वं निष्फलतां याति,
पुष्पं बन्धुतरोरिव॥

—हरिवंश पुराण ३/१५-१६

अर्थात्—श्रद्धा सब धर्मों (कर्तव्यों) के सम्पादन में माता के समान हितकारिणी है। श्रद्धा के दोनों लोकों में मनुष्यों को सिद्धि सुलभ होती है।

श्रद्धा से भजने पर पाषाण प्रतिमा भी फल दे देती है, अपठित भी ज्ञानप्रद गुरु बन जाता है। श्रद्धा से भजने वाले असत पुरुष का भी मन्त्र फलप्रद हो जाता है। श्रद्धा से पूजित देव निकृष्ट मनुष्य को भी वर दे देता है। अश्रद्धा से दिया हुआ दुःख यज्ञ, तप, व्रत आदि सभी निष्फल हो जाते हैं।

इस कथन का भी तात्पर्य यही है कि श्रद्धावान् बनकर ही मनुष्य कुछ ग्रहण कर सकता है। श्रद्धा शिष्य को संसार-सागर से शीघ्र ही पार कर देती है।

श्रद्धा विरहित व्यक्ति न लौकिक उन्नति कर पाता है और न आध्यात्मिक जगत में अपना स्थान बना पाता है। श्रद्धा विहीन व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के शब्दों

में संशयात्मक स्थिति में अपने को डालकर अपना सर्वस्व मिटा डालता है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ४ श्लोक संख्या ४० में जगदात्मा ने कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च,
संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो,
न सुखं संशयात्मनः ॥

अर्थात्—ज्ञान-रहित, श्रद्धा-रहित तथा संशययुक्त मनुष्य नष्ट हो जाता है।

गुरुवर और देवजनों के प्रति श्रद्धा का न होना साधक को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। श्रद्धा ही उसे ज्ञान ग्रहणके लिए सुपात्र बनाकर ऋतम्भरा प्रज्ञाकी प्राप्ति करा देती है, जिससे वह यथार्थ ज्ञान का अधिकारी बन जाय। अतः अपना आत्मिक उत्थान चाहने वाले को अपने हृदय में सात्विक श्रद्धा को सदैव बलवती बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। सात्विक श्रद्धा ही विवेक अथवा ज्ञान की उपलब्धि कराती है। इन दोनों का संयोग ही उसे कल्याणकारी बनाने में समर्थ होता है। बिना विवेक के श्रद्धा अन्धश्रद्धा का रूप ले लेती है, जिससे अनेक प्रकार के अनर्थ और अनिष्ट योग-साधक के मार्ग में आ खड़े होते है, और निश्चय ही विवेकहीन श्रद्धा से अन्तराय साधक को विनाश के गर्त में ले जाकर डाल देते हैं। ये उसकी इष्ट-सिद्धि में सहायक नहीं होते। संशय और ऊहापोह की स्थिति में आकर वह विनष्ट हो ही जाता है। प्रतिकूल इसके किसी के पास अगर विवेक की सम्पत्ति तो है, लेकिन श्रद्धा उसके पास नहीं है, तब भी केवल विवेक उसे अभीष्ट सिद्धि नहीं करा सकता। विवेक अबाधगति से द्रुतगामी होकर आगे बढ़ना तो जानता है। पर उसकी इस तीव्रगामी गति को नियन्त्रित करना श्रद्धा के बिना सम्भव नहीं हो पाता। अतः श्रद्धा के लिए विवेक और विवेक के लिए श्रद्धा का संयोग होना अनिवार्य ही रहता है।

भगवान् पतंजलिदेव ने साधन पाद के सूत्र संख्या २० में श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा-पूर्वकः शब्दों के क्रम का चयन बड़ी ही सूझ-बूझ के साथ किया है। आइये, थोड़ा विचार करें योग-शास्त्र के अनुसार उनके इस सूत्र के शब्द-क्रम के चयन पर।

श्रद्धा—

इसकी व्याख्या में भगवान् व्यासदेवजी के मत का उल्लेख ऊपर हम विस्तार से कर चुके है। केवल शास्त्र और गुरु से प्राप्त ज्ञान बहुत से व्यक्तियों की उत्सुकता का निवारण करता है। ऐसी उत्सुकता के वशीभूत होकर जो जाना जाता है वह श्रद्धा नहीं होती, ऐसा कुछ विद्वानों की मान्यता है। जिसे जानना रूप क्रिया के साथ चित्त का सम्प्रसाद रहता है वही श्रद्धा होती है। श्रद्धाभाव रहने से लगातार श्रद्धेय विषय के प्रति प्रीति और आसक्ति बढ़ती रहती है।

वीर्य—

सूत्रगत वीर्य शब्द का अर्थ है उत्साह, बल और ओज। चित्त के क्लान्त होने पर या विषयान्तर में दौड़ने पर जिस बल के द्वारा उसे पुनः साधन की ओर लौटाया जाता है, वही वीर्य होता है। श्रद्धा रहने पर वीर्य होता है, जिस प्रकार कष्टपूर्वक भारी बोझ उठाते-उठाते कोई भी बोझ उठाने की कलामें कुशल हो जाता है, उसी प्रकार मानस स्थिरता का प्रयास करते-करते वीर्य का वर्धन हो जाताहै।

(● शेष पृष्ठ टाईटल ३ पर पढ़े)

सङ्कल्प

● श्री रूपचन्द 'दीपक'

मानव-जीवन में कर्म की प्रधानता है। कर्म की शक्ति मन और मन की शक्ति संकल्प में है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है—"संकल्पो वाव मनसो भूयान्" (प्रपाठक-७, खण्ड-४, श्लोक-१) अर्थात् संकल्प मन से बढ़कर है। वस्तुतः मनुष्य के जीवन का व्यावहारिक आधार उसका संकल्प है।

ईश्वर ने संकल्प से सृष्टि की रचना की है। संकल्प के दो प्रसिद्ध अर्थ हैं—कामना एवं ईक्षण। कामना अप्राप्त की होती है और ईश्वर के लिए कुछ भी अप्राप्त नहीं है। अतः उसके संकल्प को ईक्षण कहा जाता है। ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत।" (अध्याय-१, खण्ड-१, श्लोक-१, २) अर्थात् उसने ईक्षण किया कि मैं लोकों की रचना करूँ और उसने समस्त लोकोंको बना दिया। इस प्रकार ईश्वरीय कर्म में भी संकल्प का स्थान है।

पशुओं के लिए भी संकल्प का महत्व है। वेदान्त दर्शन में एक लौकिक दृष्टान्त दिया गया है—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि।' (अध्याय-२, पाद-१, सूत्र-२४) अर्थात् गाय अपने संकल्प से बछड़े के लिये दूध स्रवित करती है। उक्त स्थिति केवल गाय नहीं अपितु अन्य पशु-पक्षियों की भी है। इससे संकल्प शक्ति की व्यापकता का बोध होता है।

संकल्प से मनुष्य के जीवन की दिशा निश्चित होती है। जैसे राम ने पिता का वचन निभाने का संकल्प किया और बीच में पिता की मृत्यु हो जाने पर भी उसे पूर्ण किया। कृष्ण ने युद्ध में पाण्डवों का साथ देने का संकल्प किया और भीष्म, द्रोण, कर्ण अश्वत्थामा जैसे दुर्जेय शत्रुओं के होते हुए भी उसे पूर्ण किया। चाणक्य ने छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करने का संकल्प किया और विलक्षण प्रतिभा के बल पर उसे पूर्ण किया। दयानन्द ने अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करने का सङ्कल्प किया और प्राण देकर उसे पूर्ण किया। इन महापुरुषों के सङ्कल्पों ने विश्व इतिहास का निर्माण किया है। इसके विपरीत रावण, दुर्योधन, हिटलर, नादिरशाह आदि के सङ्कल्पों ने विध्वंसकारी कार्य किये हैं। जिस प्रकार बीज के अनुरूप वृक्ष होता है, उसी प्रकार सङ्कल्प के अनुरूप कर्म होता है। एक व्यक्ति धन के लिए दूसरों के प्राणों का हरण करता है, दूसरा व्यक्ति राष्ट्र के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करता है। एक अपने स्वाद के लिए पशु-पक्षियों को मारकर खाता है, दूसरा पशु-पक्षियों के पालन में अपना जीवन लगा देता है। एक क्षणिक सुखके लिए अन्यों का अपमान करता है, दूसरा अन्यों के मान हेतु अपना सुख अर्पित करता है। एक अपनी जीविका के लिये वेदों का मिथ्या अर्थ करता है, दूसरा वेदों के सही अर्थ करने में निर्धनता को गले लगाता है। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों में सङ्कल्प का भेद है। सङ्कल्प भीतर-भीतर उसे प्रेरित करता है कि ऐसा करो, ऐसा

करो। मनुष्य वैसा-वैसा करता जाता है—स्थूल दृष्टि से प्रतीत होता है कि मनुष्य सर्वाधिक प्रेम अपने प्राणों से करता है, सूक्ष्म बुद्धि से विदित होता है कि मनुष्य सर्वाधिक प्रेम अपने सङ्कल्प से करता है। सङ्कल्प की पूर्ति में वह अपने प्राण प्रसन्नता से त्याग देता है। सङ्कल्प-पूर्ति में अपने प्राणों की चिन्ता न राम ने की थी न रावण ने, न कृष्ण ने की न दुर्योधन ने, न चन्द्रगुप्त ने की न सिकन्दर ने। ऐसी स्थिति में सङ्कल्प की महत्ता को कौन स्वीकार नहीं करेगा, अर्थात् सभी स्वीकार करेंगे। जैसा मनुष्य का संकल्प होता है, वैसा ही उसका जीवन बन जाता है। अच्छा संकल्प, अच्छा जीवन, बुरा संकल्प, बुरा जीवन। इसलिये वेद में प्रार्थना की गई है—'मे मनः शिवसंकल्पमस्तु', मेरा मन सदा कल्याणकारी संकल्प ही करता रहे।

वर्तमान समाज को देखें, स्वस्थ व्यक्तियों से अस्वस्थ व्यक्तियों की संख्या अधिक है। सत्यभाषियों से मिथ्याभाषियों की, विद्वानों से अविद्वानों की, धार्मिकों से अधार्मिकों की, योगियों से भोगियों की और त्यागियों से स्वार्थियों की संख्या अधिक है। इससे यह विदित होता है कि अच्छे सङ्कल्पों वाले व्यक्ति थोड़े हैं। तब देश और संसार का उपकार कैसे सम्भव है? राज नेताओं में देश-भक्ति का सङ्कल्प न होने पर वे देश-सेवा कैसे कर पायेंगे। विद्वानों में सत्य एवं धर्म का सङ्कल्प न हो तो अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि कैसे होगी? अध्यापकों में छात्र-निर्माण का सङ्कल्प न हो तो वे उनका चरित्र-निर्माण कैसे करेंगे? वैद्यों में आरोग्य का सङ्कल्प न होने पर रोगों का उपचार कैसे होगा? न्यायाधीशों एवं वकीलों में न्याय का सङ्कल्प न हो तो वे उसकी स्थापना कैसे करेंगे? पुलिस में दुष्ट को दण्ड देने का सङ्कल्प न हो तो नागरिक सुरक्षा कैसे सम्भव है? व्यापारियों में सामाजिक सहयोग का सङ्कल्प न हो तो वे शुद्ध वस्तुयें कैसे बेचेंगे? वस्तु स्थिति यह है कि इनमें से कोई भी वर्ग संकल्प-बद्ध होकर कार्य नहीं कर रहा है। फलतः पुलिस-वृद्धि से भी सुरक्षा-वृद्धि नहीं हो रही है। अध्यापक एवं वकील बढ़ रहे हैं, विद्या एवं न्याय नहीं। हाँ, प्रत्येक वर्ग में कुछ व्यक्ति अवश्य संकल्पबद्ध हैं। वे व्यक्तिगत पीड़ायें सहकर भी कर्त्तव्य-पालन कर रहे हैं। इन्हीं के कारण व्यवस्थायें चल रही हैं, किन्तु उत्तम स्थिति तो वही होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति यजुर्वेद के अनुसार चले कि—"इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि" (अध्याय-१, मन्त्र-५) अर्थात् मैं सदा असत्य का त्याग एवं सत्य का पालन करूँगा।

दृढ़ संकल्प वाले व्यक्ति भी थोड़े-ही होते हैं। अधिकांश व्यक्ति थोड़े-से लाभ के कारण सदाचार से डिग जाते हैं। वे क्षुद्र धन, मान, पद, सुख आदि के कारण सत्य सिद्धान्तों एवं नैतिक मूल्यों को तिलांजलि दे देते हैं, यह संसार में प्रतिदिन स्वतः दृष्टिगत होता रहता है। जैसे एक शिशु माता के डाँटने पर कहता है कि अब कभी मिट्टी नहीं खाऊँगा और अगले ही क्षण माता के हटने पर तुरन्त मिट्टी खा लेता है। एक किशोर व्यसन का शिकार होने पर प्रतिदिन व्यसन त्यागने की शपथ खाता रहता है और प्रतिदिन व्यसन करता रहता है। एक प्रौढ़ व्यक्ति प्रत्येक बार शपथ

लेता है कि इसके बाद कभी रिश्वत नहीं लूँगा। यह प्रणय लेना एवं भंग करना सदा चलता रहता है। फलस्वरूप संकल्प की दुर्बलता के कारण लोग खान-पान के सरल नियमों का पालन नहीं कर पाते और स्वास्थ्य से वञ्चित रहते हैं। इसी प्रकार वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध लोग भी असत्य एवं क्रोध का त्याग नहीं कर पाते और सुख से वञ्चित रहते हैं। यह बालबुद्धि ही है। जब तक संकल्प दृढ़ नहीं होता, तब तक दोष-त्याग एवं गुण-ग्रहण भी नहीं होता। जीवन-सुख, दुःख, विद्या-अविद्या, धर्म-अधर्म के बीच झूलता रहता है और विशेष उपलब्धि नहीं होती। जो व्यक्ति दृढ़ संकल्पी होता है, वह शक्ति, कुशलता, सुख, विद्या एवम् लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। किसी कवि ने कहा है कि 'पुंसां विनिश्चये कृते देवाः सहायतां यान्ति' अर्थात् दृढ़ निश्चय वाले व्यक्ति की दिव्य गुण एवम् देवगण सहायता करते हैं।

अच्छे एवम् दृढ़ संकल्प वाले मनुष्य बिरले होते हैं। वे ही आर्य कहलाते हैं। इन्हीं के तपरूपी स्नेह से संस्कृति की लौ प्रज्वलित रहती है। इनका जीवन यज्ञमय होता है। ऐसे जीवन हेतु आवश्यक संकल्प निम्नलिखित हैं—

(१) यम-नियम, (२) पञ्च महायज्ञ, (३) जागरण मन्त्र, (४) शयन मन्त्र, (५) संगठन सूक्त।

तीन मौलिक गुण : सत्व रज और तम

बाह्य तथा आन्तर जगत में मूलतः प्रकाश क्रिया और स्थिति ये तीन मौलिक गुण ही हैं।

जिसका शील या स्वभाव केवल प्रकाश है वह सत्व है। सत्व का अर्थ है द्रव्य या 'अस्ति इति' रूप से ज्ञायमान भाव। प्रकाशित या बुद्ध होने पर वही विषय सत कहा जाता है। अतः प्रकाशशील भाव का नाम सत्व है।

क्रियाशील भाव रज है, रज या धूलि जिस प्रकार मलिन कर देती है उसी प्रकार सत्व को मलिन कर देने के कारण क्रियाशील भाव का नाम रज होता है। क्रिया द्वारा अवस्थान्तर होने के कारण सत्व (या स्थिर सत्ता) असत के समान या अवस्थान्तर या या लयोन्मुखशील होता है। इसी कारण क्रिया सत्व की विप्लवकारी होती है।

स्थित शीलभाव ही तमः है। यह तम या अँधेरे के समान स्वगतभेद शून्य, अलक्ष्यवत् आवृत अवस्था में रहता है अतः इसका नाम तमः है।

अतः प्रकाशशील सत्व, क्रियाशील रजः और स्थितशील तमः ये तीनों भाव बाह्य तथा आन्तर जगत के मूल तत्व हो जाते हैं। —स्वामी हरिहरानन्द आरण्य

ज्ञान और ध्यान

● आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

ज्ञान से अविद्या तथा आवरण का नाश होता है। ज्ञान का स्वरूप है वस्तु के यथार्थ रूप को प्रकाशित करना। जैसे घर में अन्धकार है तब तक कहाँ पर क्या वस्तु है, इसे नहीं जाना जा सकता। जैसे ही दीपक का प्रकाश हुआ, सभी वस्तुयें जहाँ की तहाँ दिखाई पड़ जाती हैं। सांसारिक उपलब्धियों में ज्ञान का उपयोग हम देखते ही हैं। ज्ञान के द्वारा एक लौह-खण्ड से एक इंजीनियर बहुमूल्य पदार्थ निर्मित कर देता है। साधना में भी ज्ञान की आवश्यकता है। शास्त्र कहते हैं—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान्श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुन को ज्ञान की श्रेष्ठता बताते हैं—

> न हि ज्ञानेन सदृशं
> पवित्रमिह विद्यते।
> तत्स्वयं योग संसिद्धः
> कालेनात्मनि विन्दति॥

अर्थात् ज्ञान के समान पावन अन्य कोई चीज नहीं है। योग सिद्ध व्यक्ति यथा समय उस ज्ञान को अपने आत्मा में ही पा लेता है। ज्ञानका अधिष्ठान आत्मा है। जब योगी आत्म-साक्षात्कार कर लेता है तो सृष्टि के सारा रहस्य उसके सम्मुख हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष गोचर हो जाता है। योगी की इच्छामात्रसे अतीत अनागत तथा विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, योगी विज्ञानी होता है। जो अन्तर वैज्ञानिक (Scientist) और औद्योगिक (Technowgiot) में है वह ज्ञानी और योगी में है। युक्तयोगी ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण होता है, उसमें अनन्त सामर्थ्य होती है। प्राकृत पदार्थों के ज्ञान से शरीर, इन्द्रिय, मन तक की आवश्यकतायें पूरी हो सकती हैं। यह ज्ञान मोक्षदायक, कर्तव्यत्व, भोक्तृत्व, प्रारब्ध रहित जन्म-मरण और वृत्ति-संस्कार से मुक्त नहीं कर सकता। इसके लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता है वह नष्ट होते हुए के बीच अविनाशी पदार्थ का ज्ञान है। इसे अध्यात्म ज्ञान या तत्व ज्ञान कहा गया है। (गीता) गरुड़-पुराण में ज्ञान के दो विभाग बताये गये हैं—एक शास्त्र ज्ञान और दूसरा विवेक ज्ञान जिसे योग-दर्शन ने—

> तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं
> चेति विवेकजं ज्ञानम्।

—योग-दर्शन ३/५४

इस सूत्र में निर्दिष्ट किया है। शास्त्र ज्ञान तो दर्पण की तरह वस्तुको प्रतिबिम्बित करने वाला है। उसमें तत्व की सूचना मात्र होती है। जो लोग उसी को पकड़कर बैठे रह जाते हैं, उन्हें योगवाशिष्ठ में 'ज्ञानबन्धु' कहा गया है। वह ज्ञानमुक्त करने की अपेक्षा उन्हें बाँधने का काम करता है। वह ज्ञान उनमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान पैदा करता है। इसीलिए रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि ज्ञान के अभिमानी पण्डित एक चील के समान होते हैं। चील बहुत ऊँची उड़ती है और बहुत दूर तक देखने की भी

शक्ति होती है, किन्तु उसको वह शक्ति गड़े मुर्दे खोजने में ही काम आती है। ऐसे ही शास्त्र ज्ञान का अहंकार करने वाला दूसरों का मुँह बन्द करने, नीचा दिखाने, वाद-विवाद में परास्त कर देने में ही अपने ज्ञान की इति कर्त्तव्यता मान लेता है। वह कीर्ति, कञ्चन और कामिनी का उपासक बना रहता है। उस ज्ञान का उपयोग अपने कल्याण (आत्म-ज्ञान) के लिए कम ही कर पाता है। किन्तु ध्यान से परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इसलिए भगवान् ने गीतामें अपना निर्णय दिया—"ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।"

ज्ञान से ध्यान अधिक अच्छा है। क्योंकि ध्यान से ही मनोनाश और वासनाक्षय होकर तत्त्व ज्ञान होता है। ध्यान तत्त्व ज्ञान में परम्परया कारण है। गरुड़-पुराणमें स्पष्ट किया गया है—

आगमोक्तं विवेकोत्थं
द्विधा ज्ञानं प्रचक्षते।
शब्द ब्रह्मागममयं
परब्रह्मविवेकजम्॥

यदि नेत्रों में ज्योति न हो तो बाहरी प्रकाश से कुछ काम नहीं चलता। किसी अन्धे को सूर्य से क्या लाभ? इसी प्रकार विवेक और वैराग्य के बिना ज्ञान नपुंसक है। यद्यपि यह कहा जाता है कि "ज्ञानादेव तु वैराग्यं जायते तेन मुच्यते।" (मोक्षधर्म) अर्थात् ज्ञान से ही वैराग्य होता है और वैराग्य से ही मोक्ष होता है। यहाँ जिस ज्ञान की बात कही गई है वह विवेकज ज्ञान की बात कही गई है। ध्यान समाधि के द्वारा जब योगी पंचभूतों, तन्मात्राओं तथा अन्तःकरण का साक्षात्कार कर लेता है तो उसमें विवेकज ज्ञान (प्रकृति पुरुष के स्वरूप का विभाजक ज्ञान) उदित हो जाता है। योग-दर्शन में—"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः।" (योग-दर्शन १/४१)। इस सूत्र में कहा गया है कि साक्षात्कार के अनन्तर वासना क्षीण होती है तथा अनेक ऐन्द्रिक, कायिक, चित्तज सिद्धियों का उदय होता है—'तद् वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (३/५०)। इस सूत्रमें कहा गया है कि सिद्धियों की भी उपेक्षा कर देने पर समस्त प्रारब्ध और संचित कर्मोंका नाश हो जाने पर निर्बीज समाधि से कैवल्य सिद्धि होती है। इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञान-ध्यान की शक्ति पाकर मोक्ष का जनक बनता है। कोरा ज्ञान बन्धन का कारण है। योग का ज्ञान मात्र कल्याण नहीं कर सकता है। ऋषि कहते हैं—'क्रियैव कारणं सिद्धेः।' क्रिया ही सिद्धि का कारण है। जब तक योगी ध्यान और ज्ञान को एकरूप नहीं करता, तब तक उसका कल्याण नहीं होता। शास्त्र-कृपा, गुरु-कृपा और आत्मकृपा (ध्यानाभ्यास) मिलकर कल्याण होता है। ज्ञान का लाभ तभी है जब ज्ञान धारणा द्वारा धर्म का रूप धारण कर चित्तशुद्धि का कारक होता है। गरुड़-पुराण कहता है—'ज्ञानं तु ध्यानयोगार्थं भक्तिरात्ममुच्यते।' ज्ञान का प्रयोजन ध्यानयोग-परायण बनने में है। ध्यान से 'ध्यानहेयाः तद्वृत्तयः' इस योग नियम के अनुसार दग्ध और प्रच्छन्न संस्कार उभरकर ऊपर आते हैं तथा प्रत्यक्ष गोचर होकर नष्ट हो जाते हैं। जैसे किसी पौधे की जड़ जब तक जमीन में छिपी है, तब तक उसको पोषित करती रहती है। किन्तु उसे उखाड़ देने पर पौधा हरा-भरा नहीं रहता। इसी प्रकार अविद्या की बेल संस्कार और कर्मरूपी मूल से पल्लवित होती है। यदि ज्ञान से उसे पहचानकर ध्यानयोग से अगोचर को गोचर कर दिया जाय तो वह प्ररोह में समर्थ नहीं होती। चित्त एक प्रकार का चित्रपट है, जिस पर वासना के द्वारा

निरन्तर चित्र बनाते रहते हैं। ध्यान योग द्वारा साधक जागृत और स्वप्न से परे सुषुप्ति दशा में पहुंच कर चित्त का ज्ञान करता है। क्योंकि चित्त सुषुप्ति दशा में स्थित रहता है। जागृत दशा में इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं। स्वप्न दशा में मन और सुषुप्ति दशा में चित्त सक्रिय रहता है। चित्त में रोगों को दूर करने के लिए इसीलिए ध्यान की आवश्यकता है। इस तथ्य के कारण ध्यान की एक परिभाषा रोगापहृतिः ध्यानम् अर्थात् रोग दूर करने का उपाय ध्यान है, ऐसी की गई है। 'ध्यानेन चित्तस्य समस्त रोगान्—विनाशयेत् सः सफलः सुसाधकः'। ध्यान के द्वारा चित्त में मोह, आसक्ति जनित समस्त रोगों को जो दूर करता है वही साधक योग साधना में सफल होता है।

जब तक तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती तभी तक तप, व्रत, तीर्थ, जप, होमपूजा तथा वेद शास्त्र एवं आगमों का परायण है। तत्त्व ज्ञान होने पर ये सब उसी प्रकार परि-हार्य हो जाते हैं जिस प्रकार किसान दाना निकाल कर पुआल को अलग कर देता है। तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साक्षात्कारण है। वेदशास्त्रादि का ज्ञान परोक्ष रूप से मोक्ष में कारण है। 'मोक्षस्य कारणं साक्षात्तत्त्व ज्ञानं खगेश्वर' जो केवल शब्द बोध के चक्कर में पड़े रहते हैं वे तत्त्व को नहीं प्राप्त कर पाते। जिस प्रकार करछी (चमचा) हलुआ को बनाने में उलटने-पुलटने और परोसने में सहायक है किन्तु वह हलुआ का स्वाद नहीं जानती। इसी प्रकार जो वेद-शास्त्र पढ़ते हैं और परस्पर उस पर वाद-विवाद करते रहते हैं वे कोरे ज्ञान से तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाते। रामकृष्ण परमहंस इस बात को पंचाङ्ग के उदाहरण द्वारा समझाते हैं।

पंचाङ्ग में जैसे यह लिखा रहता है कि अमुक नक्षत्र में अमुक दिन वर्षा होगी। यह सूचना मात्र है पत्रा में। कोई व्यक्ति पंचाङ्ग को निचोड़कर वर्षा करना चाहे तो यह बुद्धिमानी नहीं होगी। वर्षा तो बादलों से ही होगी। वे एक दूसरा उदाहरण और देते हैं। कहीं से पत्र आता है उसमें लिखा होता है कि अमुक अमुक कार्य करने हैं। उस पत्र के संकेत को पाकर व्यक्ति पत्र को एक ओर रख देता है और कार्य करने लग जाता है। यदि पत्र को ही पकड़ कर बैठा रहे और बार-बार उसका पाठ करता रहे तो पाठ करने से कार्य सम्पादित नहीं हो सकते। आग जलाने के लिए जैसे दो पत्थर रगड़ते हैं या लोहे और पत्थर को आपस में रगड़ते हैं उसी प्रकार बुद्धि के भ्रम अज्ञान और संशय की निवृत्ति के लिए शास्त्र रगड़ का काम करते हैं। जब बुद्धि स्थित प्रज्ञ स्थिति में एकाग्र एवं सूक्ष्म बोध की स्थिति में आ जाती है तो जैसे गाय खाये हुए चारे को उलट-पुलटकर जुगाली करती है, तभी वह आत्मसात होकर दुग्ध का उत्पादक होता है, उसी प्रकार पठित और श्रुत ज्ञान को ध्यान योग से मनन और निदिध्यासन की प्रक्रिया से गुजारने पर तत्त्व में परिणत होता है। गरुड़ पुराण में ज्ञान और ध्यान का तात्त्विक विवेचन है।

जिस प्रकार फूलों की माला सिर पर धारण करने पर (जूड़े में) उसकी गन्ध नासिका ग्रहण करती है उसी प्रकार वेद-शास्त्र पढ़ने पर जब तक ध्यान का अभ्यास

नहीं होगा तब तक तत्वबोध नहीं होगा तथा वह ज्ञान भार बन जायगा।

शिरो वहति पुष्पाणि
गन्धं जानाति नासिका।
पठन्ति वेद शास्त्राणि
दुर्लभो भाव बोधकः॥
संसार मोह नाशाय
शब्द बोधो नहि क्षमः।
न निवर्त्तेत तिमिरं
कदाचिदपि दीपवार्तया॥
प्रज्ञाहीनस्य पठनं यथान्ध
स्य च दर्पणम्।
अतः प्रज्ञावतां शास्त्रं
तत्वज्ञानस्य लक्षणम्॥

'जिमि गृहमध्य दीप की बातिन तम निवृत्ति नहि होई।' कोई दीपक की सुन्दरता उसके लाभ और गुणों का वर्णन करता रहे तो घर का अंधेरा दूर होगा ? अन्धकार तो दीपक जलेगा तभी दूर होगा। उसी प्रकार शब्दों की खींचतान या जादूगरी दिखाने से जीवन का कल्याण नहीं हो सकता। आज-कल शब्द शिल्पी बहुत पैदा हो रहे हैं। वेदान्त के ज्ञान से नीचे की बात नहीं करते और एक-एक पैसे के लिए अपना धर्म, कर्म, ईमान और इज्जत सब कुछ बेचनेमें बिलकुल संकोच नहीं करते। ज्ञान, बुद्धि-विलास से अधिक कुछ नहीं है। ध्यान से आचरण सुधरता है। जीवन में ज्ञान रच-पच जाता है। हमने ऐसे कई महापुरुष देखे हैं जो किसी स्कूल या कालेज में पढ़ने नहीं गये और न उन्होंने मोटे-मोटे ग्रन्थ पढ़े पर उन्हें ध्यान योग के अभ्यास से तात्त्विक ज्ञान मोटे-मोटे ग्रन्थ पढ़ने वालों से कहीं अधिक स्पष्ट और निर्भ्रान्त ज्ञान है।

जो ज्ञान ध्यान के सम्पुट में पकता है वह अमृत बन जाता है। हमारे देश की प्राचीन शिक्षा पद्धति में यज्ञोपवीत संस्कार और विद्यारम्भ संस्कारके साथ सन्ध्या का विधान था। बालक को सर्वप्रथम में सन्ध्या सिखाई जाती थी। महाराज मनु ने विधान किया कि पूर्व और पश्चिम में संध्या (प्रातः और सायंकालीन) के बिना मनुष्य शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। अतः नित्य सूर्योदय और सूर्यास्त के समय संध्या करनी चाहिये। संध्या का प्रचलन आज भी कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है किन्तु उसकी वास्तविक आत्मा गायब है। कुछ मन्त्र पढ़ लिए, इधर-उधर पानी छिड़क दिया, चुटकी बजा दी चारों ओर घूम लिए और नाक पकड़ ली—हो गई संध्या। संध्या का वास्तविक अर्थ है—सम्यक् ध्यान। अच्छी प्रकार के कुम्भकयुक्त ध्यान से संध्या क्रिया को वीर्यवती बनाती है। ऐसा ज्ञान ही चरित्रवान् बनता है। कोरा ज्ञान चोर डाकू और स्मगलर तथा राक्षस बन सकता है अच्छे इन्सान का निर्माण उससे सम्भव नहीं है। हमने संस्कृत पढ़े हुए ऐसे गये गुजरे विद्वान देखे हैं कि उनसे अच्छा—धर्म और ईमान बिना पढ़े-लिखे में मिल जायगा। वैसे वे घण्टों वेद-शास्त्र का उपदेश दे देंगे। योगबीज में भगवान् शंकर पार्वतीजी से कहते हैं कि योग-रहित ज्ञान मोक्षदायक नहीं हो सकता और योग भी ज्ञान रहित होने पर कोरी कला-बाजी है।

"योगहीनं कथं ज्ञानं
मोक्षदं भवतीश्वरि।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न
भवति मोक्षकर्मणि॥"

—योगबीज

श्रेष्ठतम् कर्म यज्ञ
का
रहस्यमय विज्ञान

●● श्री ब्रह्मचारी ओमप्रकाश

यह पृथ्वी कर्म-भूमि है। कर्म-भूमि पर मानव का अवतरण इसलिए हुआ है कि वह श्रेष्ठतम कर्ममय जीवन व्यतीत करे। वेद का आदेश है कि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्'। अर्थात् इस कर्म-भूमि कुरुक्षेत्र में कर्मों को करता हुआ ही जीने की इच्छा कर, क्षण-भर भी कर्म शून्य होकर न जी। श्रेष्ठ कर्म क्या है? "यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्मः" अर्थात् वेद कहता है कि यज्ञ ही अतिशय श्रेष्ठ कर्म है। मनुष्य का जीवन यज्ञमय है, मनुष्य ही क्या सारी सृष्टि ही यज्ञमय है। यज्ञ का अर्थ जानने के पाणिनि मुनिके व्याकरण को देखना होगा। पाणिनि मुनि ने प्रत्येक शब्द के मूल का पता लगाया है। उसके प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन किया है। मुनि के अनुसार 'यज्ञ' शब्द यज् धातु से निष्पन्न हुआ है, उसके तीन अर्थ हैं- देवपूजा, संगतिकरण और दान। यज् धातु के तीन अर्थ ही यज्ञ के मौलिक तत्व हैं। इन तीन कसौटियों पर ही कर्म को कसकर देखा जा सकता है कि वह यज्ञ है कि नहीं। देवत्व जिसके अन्दर हो अर्थात् देना, दान जिसके अन्दर हो वही देव है। देवता जो पूज्य होते हैं वे अनन्त गुणा करके देने के लिए लेते हैं और पूजक या यजमान का देना पूजा करना जो होता है वह लेने के लिए होता है। यही अन्तर एक को पूज्य और दूसरे को याचक बनाये हुए है। एक का दान आदान के लिए है—"आदानं हि विसर्गाय" इसी दाता दान के माध्यम का ही नाम हवि है। हवि वह पदार्थ है, जिसे दिया जाता है, लेने के लिए तथा जिसे लिया जाता है, देने के लिए इसी हवि पर, हवन अवलम्बित है। यजमान हवि देता है लेने के लिए जबकि देव हवि लेता है देने के लिए।

यज्ञ के 'देवपूजा' और 'दान' तत्व व्यर्थ हो जायें यदि संगतिकरण न हो बिना संगति-करण के दाता दान, लेना-देना असम्भव है। देव का आदान याचक तक न पहुंचे और याचक का दान (पूजा सामग्री) देव तक न पहुंचे, यदि उनमें परस्पर संगतिकरण न हो तो। संगतिकरण का ही परिणाम है कि पूज्य-पूजक में परस्पर दान होता है और दाता दान का परिणाम है कि देव-पूजा हो रही है।

सारा ब्रह्माण्ड व पिण्ड यज्ञमय है। मानव को आदेश है कि जो देते हैं वह देव हैं। इस-लिए उनसे लेनेके लिए देव-पूजा करो अर्थात् उनको दो। 'मातृ देवो भव' कह करके सर्व प्रथम देव माता को बताया है, क्योंकि माँ बच्चों को जन्म देती है, जीवन देती है, पोषण देती है, प्यार देती है। उसके बाद पिता को भी देव कह करके पूजने को कहा

है, क्योंकि पिता भी वीर्य दान देता है, तब बालक का जन्म होता है, बच्चे के पालन-पोषण में उसका भी योगदान है। इसके बाद आचार्यो देवो भव की बात कही है कि आचार्य देव स्वरूप है। वे ज्ञान दान देते हैं, ज्ञान लेने के लिए उनकी सेवा करो। इसके बाद अतिथि देवोभव की बात कही है। समाज में वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण मुख्य है। क्योंकि वह देव है, आचार्य है—'विद्वांसो हि देवाः' विद्वान ज्ञान देते हैं, इसलिए वे पूजा के पात्र हैं।

यज्ञ के अन्दर अग्नि देव का प्रतीक है, आज्य दान का और समिधा संगतिकरण का। समिधा वह माध्यम है, जिसके द्वारा यजमान अपनी हवि अग्निदेव तक पहुंचाता है। समिधा वह माध्यम है जिसके द्वारा अग्निदेव ली हुई हवि को यजमान तक पुनः लौटाता है। इस प्रकार यजमान अग्नि के माध्यम से देव का और घृत के माध्यम से दान का समिधा के माध्यम संगतिकरण का अभिनय होते देखता है। यज्ञ प्रक्रिया के इन तीनों तत्वों को एकत्रित करके इसका नाम अग्निहोत्र रख दिया। अग्निहोत्र में प्रथम तत्व अग्नि है, दूसरा तत्व आज्य तथा तीसरा तत्व समिधा है, उद्देश्य यज्ञ है।

श्रद्धा रूपी अग्नि में सत्य रूप पय की आहुति देने का नाम ही तो यज्ञ है—मूलतः अग्निहोत्र में अग्नि श्रद्धा का प्रतीक है तथा आज्य, घृत सत्य का प्रतीक है। अग्नि के लिए यदि कोई द्रव्य है तो केवलमात्र दूध ही है। चतुष्पाद गाय का दूध तरल है और पृथ्वी रूपी गाय का दूध शुष्क है पृथ्वी में कोई धान पकाने से पहले वह दूध ही रूप होता है। वह किसी भी धान्य के दाने को पिचकाने से प्राप्त हो जाता है। चावल, जौ, तिल आदि सब कच्चे रहने पर दूध की ही तरह तरल होते हैं, फिर पककर वे ठोस दाने बन जाते हैं। आर्द्र हो अथवा शुष्क, वह दुग्ध रूप ही है। चावल, यव, तिल आदि ओषधि वनस्पति ये सब दूध के ही विभिन्न रूप हैं। चतुष्पाद गाय का दूध न हो, तो पृथ्वी रूपी गाय का दूध अगर वह भी न हो तो द्यौ रूपी गौ का दूध जल हो, अगर वह भी न हो तो वाणी रूपी गौ का दूध-सत्य तो होना ही चाहिए, यह सबसे मूल्यवती आहुति है। जैसे गाय का दूध तो दूध है ही लेकिन दही, घृत भी दूध ही है, क्योंकि दूध से ही घृत निकलता है। यज्ञ के लिए श्रेष्ठ हवि वह है जो यजमान स्वयं दुहकर लावे। चतुष्पाद गौ को अपने हाथों से खिलाकर पाल-पोषकर लिया गया दूध ही दूध है। पृथ्वी रूपी गौ का भी वही दोहन हवि बनाने योग्य है जिसे यजमान ने स्वयं जोत-बोकर प्राप्त किया है।

अग्नि वाक् बनकर मुख में आ बैठा है, उस अग्नि के लिए अग्निहोत्र है। जब जुबान बन्द हो जाती है तो जुलाह मन डोलकर मनुष्य बोलने लगता है। ब्राह्मण वाक् गौ के सत्य नामक श्वेत दुग्ध को, वैश्य, चतुष्पाद गौ के श्रीः नामक श्वेत दुग्ध को, क्षत्रिय उस गौ के यश धवल नामक दुग्ध की आहुतियाँ दें। शूद्र जन अर्थात् उसकी अपनी पालतू कर्म-गौ जो जमीन को फावड़े से खोदकर सिमट जाती है अर्थात् शूद्र परिश्रम करता है तो उसके शरीर के चाम से जो पसीना निकलता है वह उसकी अपनी कर्म-गौ का श्वेत दुग्ध है।

प्रकृति के तीन गुण—सत्व, रज और तम सत्व सफेद है, गाय का दूध भी सफेद है। दूध

से सत्वगुण बढ़ता है। रजस लाल है और तमस हरा है। इस सम्पूर्ण कथन का सार तत्व यह है कि जो भी सेवन हो, दोहन हो, वह दुग्ध रूप हो। चाहे वह पृथ्वी से लिया गया हो या अन्य किसी से वह 'पय एवेति' अर्थात् वह दूध हो। भू-माता, धरती-माता अन्न रूप में चावल जौ, गेहूं, तिल आदि जो पकने से पूर्व दुग्ध रूप ही होते हैं। यही पृथ्वी रूपी गाय का दूध है। धरती-माता में औषधियाँ और वनस्पतियाँ जो दुग्ध रूप हैं, ऐसी औषधियाँ ही रोग के लिए परम हवि है।

इस प्रकार अग्निहोत्र में प्रथम दुग्ध चतुष्पाद गौ है और अन्तिम दुग्ध वाणी रूपी गौ है। इन दोनों दुग्धों को एकत्र कर देना ही अग्निहोत्र है। घृत-रूपी हवि और ऋचा रूप मन्त्र को एकत्र कर देना अग्निहोत्र है। घृत की उपलब्धि गौ से तथा मन्त्र की उपलब्धि ब्राह्मण से होती है। जिस प्रकार चतुष्पाद गौ के चार स्तन होते हैं वैसे ही वाग् (वाणी) रूपी गौ के भी चार स्तन होते हैं यथा—वैखरी, मध्यमा पश्यन्ती और परा।

देवताओं को दो बातें रुचिकर हैं, स्वाहा तथा वषट्कार। वे चाहते हैं कि यजमान उनके लिए स्वाहा उच्चारण करें। वाह-वाह का उच्चारण करें। वाग् (वाणी) गौ के स्वाहाकार-स्तन की यह धारा जब उनके कान में पड़ती है तो मानो वे इतने मात्र से ही उठते हैं। वे पूजा चाहते हैं, समर्पण चाहते हैं और कुछ नहीं। स्वाहा शब्द का एक अर्थ समर्पण भी है। स्वाहा शब्द का निर्वचन है—"सु-आह वाग्इति"—उत्तम कथन ही स्वाहा है। उत्तम कथनों में वाह-वाह से बढ़कर क्या होगा? देवता लोग नमस्कार से तथा उनके ऐश्वर्य व वैभव के वर्णन से भी प्रसन्न होते हैं। देवों को विधि-विधान पसन्द है। वाणी का प्रयोग जब अनृत आचरण को वर्जित करने के लिए किया जाता है तो उसे सुनकर देव प्रसन्न होते हैं। झूठ मत बोलो, चोरी न करो, हिंसा न करो आदि वर्जन रूप आदेश हैं, उसी के लिए वषट्कार ध्वनि की जाती है।

वाग (वाणी) गौ के तीन स्तनों—स्वाहाकार, वषट्कार और हन्तकार हैं तथा चौथा स्तन स्वधाकार है, इसे पितरगण पीकर तृप्त होते हैं। ये मेरे पिता, माता, बाबा हैं, अतः हर तरह धारण करने योग्य हैं। अपने पुत्रों के मुख से निकलती हुई इस बात से पितर खुश होते हैं। इसलिए हे मानव! तू देवों को स्वाहा और वषट्कार द्वारा साधारण मनुष्यों को हन्तकार (आठ) द्वारा तथा पितरों को स्वधाकार द्वारा प्रसन्न कर। वे प्रसन्न होकर तेरा कल्याण करेंगे, भला करेंगे।

★ यदि ईश्वर है तो हमें उसे देखना चाहिए; यदि आत्मा है, तो हमें उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति कर लेनी चाहिए अन्यथा उन पर विश्वास न करना ही अच्छा है। ढोंगी बनने की अपेक्षा स्पष्ट रूप से नास्तिक बनना अच्छा है।

× × ×

★ जीवन और मृत्यु में सुख और दुःख में ईश्वर समान रूप से विद्यमान है। समस्त विश्व ईश्वर से पूर्ण है। अपने नेत्र खोलो और उसे देखो। अन्तर्निहित आत्मा की उपासना ही ईश्वर की उपासना है।

—स्वामी विवेकानन्द

जीवित कौन ?

★ श्री विष्णुप्रसाद व्यास

मनुष्य जब तक चलता-फिरता, खाता-पीता तथा अन्य शारीरिक क्रियायें करता रहता है। तब तक यह कहा जाता है कि मनुष्य जीवित है अर्थात् जब तक उसमें प्राण हैं। जब तक उसका दिल धड़कता है और जब तक वह श्वास लेता है, तब तक मनुष्य को जीवित समझा जाता है, किन्तु जब उसके दिल की धड़कन बन्द हो जाती है, श्वास-प्रश्वास तथा अन्य शारीरिक क्रियाएं करने में जब वह असमर्थ हो जाता है तो यह कहा जाता है कि अमुक मनुष्य अब नहीं है, वह मृत्यु को प्राप्त हो चुका है।

यह सांसारिक दृष्टि है, यह देखने के लिए कि अमुक व्यक्ति जीवित है अथवा मृत किन्तु सन्तों के दृष्टिकोण से या इस सम्बन्ध में उनकी कसौटी अलग होती है। उनकी दृष्टि में मनुष्य में चाहे प्राण विद्यमान हों और वह हर प्रकार की शारीरिक क्रियाएँ कर रहा हो, परन्तु यदि उसमें ईश्वर की भक्ति और प्रेम नहीं है तो वह प्राणी मृतक के समान ही है। जो जीव ईश्वर की भक्ति से हीन है, जिनके हृदय में प्रभु का स्मरण नहीं है, जो मालिक की सेवा और उसके सुमिरन-ध्यान में अपना समय व्यतीत नहीं करते, ऐसे प्राणी सांसारिक दृष्टि से जीवित होते हुए भी निष्प्राण हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी का कथन है कि—

> जिन हरि भक्ति हृदय नहीं आनी।
> जीवित शव समान ते प्रानी॥
>
> —बालकाण्ड

संसार की प्रत्येक वस्तु प्राप्त होने पर तथा सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी यदि मनुष्य में ईश्वर की भक्ति नहीं तो मानो उसके वे सारे गुण ऐसे हैं जैसे मृतक का शृंगार कर दिया गया हो। अभिप्राय यह है कि मनुष्य में चाहे कितने ही गुण क्यों न हों, उसे कितनी ही सांसारिक सुविधायें क्यों न प्राप्त हों, यदि उसमें ईश्वर की भक्ति नहीं, तो उसका जीवन किसी काम का नहीं।

इसका अर्थ यह हुआ कि जीवन वह नहीं जो केवल श्वासों पर आधारित हो अपितु वास्तविक अर्थों में जीवन उसका नाम है, जिसमें मालिक की भक्ति, प्रेम और नाम की लगन हो।

यह तो सभी ने सुना है कि अमृत में यह शक्ति है कि जो कोई उसे पी लेता है, वह अमर हो जाता है। किन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अमृत की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है? एक दिन कथा-प्रसंग में यही प्रश्न एक महात्माजी ने श्रोताओं से पूछा। तब एक व्यक्ति ने उत्तर दिया कि अमृत समुद्र में रहता है, क्योंकि देवताओं और असुरों द्वारा समुद्र-मंथन के समय भी समुद्र से अमृत निकला था। सन्त बोले—यदि अमृत समुद्र

में रहता है, तो समुद्र खारा क्यों है ? उसका खारा होना ही इस बात का प्रमाण है कि अमृत समुद्र में नहीं रहता, क्योंकि अमृत तो मधुर होता है।

तब दूसरा व्यक्ति बोला—अमृत चन्द्रमा में रहता है, इसीलिए उसे अमृत बरसाने वाला कहा जाता है। आयुर्वेद के ग्रंथों में भी इसके विषय में वर्णन आता है कि रात के समय औषधियाँ चन्द्रमा से अमृत को ग्रहण करती है, जिससे रोग दूर होते हैं आयु बढ़ती है। इसीलिए कई औषधियाँ पूर्णिमा की रात्रि को रात भर चाँदनी में रखकर तैयार की जाती हैं।

यह उत्तर भी महात्मा को नहीं भाया और वे बोले—यदि अमृत का स्रोत चन्द्रमा है और अमृत उसी में रहता है, तो फिर चन्द्रमा क्षय को क्यों प्राप्त होता है अर्थात् वह घटता क्यों है ? जहाँ अमृत हो वहाँ क्षय कैसा ? इससे स्पष्ट है कि अमृत किसी अन्य स्थान पर रहता है।

तीसरा व्यक्ति बोला—तब फिर अमृत निश्चय ही स्वर्ग में है, क्योंकि ऐसा कथन है कि देवता लोग स्वर्ग में रहते हुए अमृत का पान करते हैं। इसीलिए वे तरुण बने रहते हैं और स्वर्ग के भोगों को भोगने की शक्ति उनमें सदैव बनी रहती है।

महात्माजी ने कहा—तुम्हारा उत्तर भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि स्वर्ग में अमृत हो और देवता उसका पान करते हों तो फिर उनका पतन क्यों होता है ? जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं ।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥
—गीता ९/२१

वे विशाल स्वर्ग लोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं।

तब चौथा व्यक्ति बोला कि अमृत नाग-लोक में रहता है। कहते हैं—नाग अत्यन्त आयु वाले होते हैं। दीर्घायु का कारण अमृत ही है। महात्मा ने कहा—यदि नागलोक में अमृत रहता है और नाग उसका पान करके दीर्घायु प्राप्त करते हैं तो फिर उनमें विष क्यों होता है ? अमृत और विष दोनों पर-स्पर विरोधी वस्तुएँ हैं। जहाँ अमृत हो, वहाँ विष क्यों ?

अन्त में सबने महात्माजी के चरणों में विनय की कि हम तो अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार जो समझ में आया, कह चुके। अब कृपया आप ही बतायें कि अमृत कहाँ रहता है ?

महात्माजी बोले—सच्ची बात तो यह है कि अमृत ईश्वर के नाम में रहता है और ईश्वरके नाम की प्राप्ति केवल समय के सन्त-सद्गुरु से ही होती है। सद्गुरु-कृपा से जब ईश्वर के नाम में जीव का ध्यान जुड़ता है तो उसके प्रताप से वह नाम-जप रूप अमृत का पान करता है।

दोहा

सतगुरु नाम अमृत भरा, जो पीवे तृप्ताय।
सुखी बसे संसार में, और अमर पद पाय ॥

"सद्गुरु का नाम अमृत से परिपूर्ण है। जो कोई इस नाम का पान करता है, उसकी आत्मिक भूख-प्यास मिट जाती है और वह तृप्त आत्मा हो जाता है। ऐसा गुरु-शिष्य इस संसार में सुखी जीवन व्यतीत करता हुआ अमर पद को प्राप्त करता है।"

सौभाग्यशाली हैं वे जीव जो सद्गुरु की शरण-संगत में आ गये हैं और जिन्हें गुरु-मंत्र

की प्राप्ति हो गई है। उन्हें चाहिए कि मन के धोखे से बचें और विषय-वासनाओं तथा कामनाओं का विष त्यागकर मालिक के नाम रूपी अमृत का पान करें। यह मन ऐसा धूर्त है जो जीव को भक्ति-मार्गसे भटकाकर गलत मार्ग पर लगाता है और विष पान करने को प्रेरित करता है।

कथा है—सम्राट सिकन्दर ने एक महात्मा की बहुत सेवा की। महात्माजी उसकी सेवा से प्रसन्न हुए और एक दिन कहा—हम तेरी सेवा से अति प्रसन्न हैं, अतएव आज हमसे जो चाहो मांग ले। सिकन्दर ने भी इसी भावना से उनकी सेवा की थी कि महात्माजी से अमर होने का वरदान प्राप्त करूँ ताकि सृष्टि को जीतने का मेरा स्वप्न साकार हो जाये, अतएव वह हाथ जोड़कर बोला—भगवन्! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरे ऊपर यही कृपा करें कि मैं अमर हो जाऊँ।

महात्माजी ने कहा—ऐसा हो सकता है, परन्तु इसके लिए तुम्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। अमुक स्थान पर अमृत का एक सरोवर है, परन्तु उस स्थान पर पहुंचने का मार्ग बड़ा दुर्गम है और मार्ग अनेक प्रकार की बाधाओं से भरा है।

सिकन्दर ने विनय की—प्रभो! मेरे लिए कुछ भी कठिन नहीं है। आप शीघ्र उस स्थान के विषय में मुझे बतलायें ताकि मैं वहां पहुंचकर अमृत का पान कर सकूँ।

महात्माजी ने उसे अमृत के सरोवर के विषय में पूरी जानकारी देदी और उस तक पहुंचने का मार्ग भी बतला दिया। सिकन्दर अपनी सेना के चुने हुए कुछ वीरों को साथ लेकर उस मार्ग पर चल पड़ा और मार्ग की कठिनाइयों तथा बाधाओं को पार करता हुआ अन्त में अमृत के सरोवर पर आ पहुंचा सिकन्दर प्रसन्नता से फूला न समाया और सोचने लगा कि अब तो अमृत का घूंट पीने की देर है मैं अब सदा सर्वदा के लिये अमर हो जाऊंगा और सृष्टि पर ही नहीं, प्रत्युत मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लूंगा।

यह सब सोचकर उसने अंजलि में अमृत भरा और ज्योंही वह उसे पीने लगा कि उसे किसी पक्षी की दर्द भरी आवाज सुनाई दी। उसने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई। क्या देखता है कि उससे थोड़ी दूर पर एक पक्षी तड़फड़ा-कर चिल्ला रहा है। सिकन्दर ने जैसे ही पक्षी की ओर देखा, पक्षी बोल उठा—सिक-न्दर! मैंने भी इसका एक घूंट पिया था, जिसका परिणाम तुम्हारे सामने है कि मैं तड़फ तड़फकर जीवन व्यतीत कर रहा हूँ, न मरता हूँ न जीता हूँ। अतएव मैं तुम्हें चेता-वनी देता हूँ कि इसे न पीना, अन्यथा तुम्हारी भी वही दशा होगी जो इस समय मेरी हो रही है। उसकी बातें सुनकर और उसकी दयनीय दशा देखकर सिकन्दर ने तुरंत अमृत को फेंक दिया। उसे महात्मा पर इस बात पर अत्यन्त क्रोध आया कि उन्होंने अमृत का सरोवर बतला कर उसे विष के सरोवर पर भेज दिया है। वापस आते ही वह सीधा महात्मा की कुटिया पर पहुंचा और क्रोधावेश में सारा वृत्तान्त कह सुनाया। महात्माजी शान्तिपूर्वक उसकी बात सुनते रहे। संपूर्ण वृतांत सुन लेने पर उन्होंने कहा-सिकन्दर! इसमें रत्तीभर भी असत्य नहीं है कि वह वस्तुतः अमृत का सरोवर था और उसका एक घूंट पीते ही तुम अमर हो जाते, परन्तु उस पक्षी की बातोंमें आकर तुम धोखा

(● शेष पृष्ठ २३ पर)

आसन प्राणायाम * * *
* * * और प्रत्याहार

● श्री वैद्य रामधन शर्मा शास्त्री

अब श्री प्रभुजी और सद्गुरुजी की कृपा से उपरोक्त विषयों पर व्याख्या की जावे तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन जाता है अतएव कहा है :—

अनन्त पारं किल शब्द शास्त्रम्,
स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्ना।
सारंततो ग्राह्यमपास्य फल्गु,
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बु मध्यात् ॥

शास्त्रों का कोई पार नहीं पा सकता। आजकल कलयुग में आयु कम होती है और उस कम आयु में विघ्न ज्यादा पड़ जाते हैं। अतएव हर एक वस्तु का सार ही ले लेना चाहिए जैसे दूध और पानी को मिलाकर रखने पर हंस पानी छोड़ देता है और दूध पी लेता है। योग की व्याख्या करना कठिन है अथर्व वेद में लिखा है :—

स घा नो योग आभुवत्
स राये स पुरन्ध्याम।
गमद् वाजेभिरा स नः।

अर्थात्—वह परमेश्वर निश्चय से हमारी योग विभूतियों की प्राप्ति में दीर्घकाल के ध्यान से आ प्रकट होता है। इससे अधिक योग साधना द्वारा उस परमब्रह्म को पा लेने का और बड़ा क्या प्रमाण मिल सकता है। क्योंकि आसन तो बहुत होते हैं पद्मासन आदि अनेक प्रकार के आसन बतलाये गये हैं। इनमें से कोई भी आसन बाँधकर परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए। पहले किसी पवित्र स्थान पर अपने बैठने के लिए स्थिर आसन बिछावें जो न अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा हो। सबसे नीचे कुशा का आसन हो और उसके ऊपर मृग चर्म हो, उसके ऊपर वस्त्र बिछाया गया हो। उस आसन पर बैठकर मन और इन्द्रियों की चेष्टाओं को रोकते हुए चित्त को एकाग्र करें और अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास में संलग्न हो जायें। उस समय शरीर, मस्तक और गले को अविचल भाव से एक सीध में रखते हुए स्थिर बैठे। केवल अपनी नासिका का अग्र भाग देखे और अन्य दिशाओं की ओर दृष्टिपात न करे, दोनों पैरों की एड़ियों से अण्डकोष और लिङ्ग की रक्षा करते हुए दोनों उरुओं (जाँघों) के ऊपर भुजाओं को यत्नपूर्वक तिरछी करके रखे। तथा बाँये हाथ की हथेली पर दाँये हाथ का पृष्ठ भाग को स्थापित करें और मुँह को कुछ ऊँचा करके सामने की ओर स्थिर कर रखे। इस प्रकार बैठकर प्राणायाम करना चाहिए। और शरीर के भीतर रहने वाली वायु को प्राण कहते हैं उसके रोकने का नाम (आयाम) है अर्थात्—प्राणायाम का अर्थ हुआ प्राण वायु को रोकना। उसकी विधि इस प्रकार है अपनी अंगुली से नासिका-छिद्र को

दबाकर दूसरे छिद्र से उदर स्थित वायु को बाहर निकालें उसको रेचन कहते हैं। तत्पश्चात् चमड़े की धोंकनी के समान शरीर को बाहरी वायु से भरे। वायु भर जाने से कुछ काल स्थिर भाव बैठे रहें। बाहरी वायु की पूर्ति करने के कारण इस क्रिया को पूरक कहते हैं। वायु भर लेने के पश्चात् साधक न तो भीतरी वायु को छोड़ता है और न बाहरी वायु को ग्रहण करता है अपितु भरे हुए घड़े की भांति अविचल भाव से स्थिर रहता है। उस समय कुम्भवत स्थिर होने के कारण उसकी चेष्टा कुम्भक कहलाती है। बारह मात्रा (पल) का एक (उद्घात) होता है इतनी देर तक वायु को रोकना कनिष्ठ श्रेणी का कुम्भक है। दो उद्घात अर्थात् चौबीस मात्रा तक लिया जाने वाला कुम्भक मध्यम श्रेणी का होता है। यानी तीन उद्घात अर्थात् छत्तीस मात्रा तक का कुम्भक उत्तम श्रेणी का प्राणायाम माना गया है। जिससे शरीर से पसीना निकलने लगे, कंपकपी आ जाय तथा आसें चाल लगने लगे वह प्राणायाम अति उत्तम है। प्राणायाम की भूमिकाओं में से जिस पर भलीभांति अधिकार न हो जावे उन पर सहसा आरोहण न करें अर्थात् क्रमशः अभ्यास बढ़ाते हुए उत्तरोत्तर भूमिकाओं में आरूढ़ होने का यत्न करें और प्राण को जीत लेने पर हिचकी और सांस आदि के रोग दूर हो जाते हैं। नीरोग होना, तेज बढ़ना, मन में उत्साह होना, स्वर में माधुर्य आना बल बढ़ना, शरीर वर्ण में स्वच्छता का आना तथा सब प्रकार के दोषों का नाश हो जाता है। ये सब प्राणायाम से होने वाले लाभ हैं। प्राणायाम दो तरह के होते हैं। अगर्भ और सगर्भ. तप जप और ध्यान के साथ किये जाने वाले प्राणायाम को सगर्भ कहते हैं। इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये सगर्भ प्राणायाम ही उत्तम है। उसी का अभ्यास करना चाहिये। ज्ञान और वैराग्य से युक्त होकर प्राणायाम के अभ्यास से इन्द्रियों को जीत लेने पर सब पर विजय प्राप्त होती है, जिसको स्वर्ग और नर्क कहते हैं वह सब इन्द्रियाँ ही हैं। ये ही वश में होने पर स्वर्ग में पहुंचाती हैं। और स्वतन्त्र छोड़ देने पर ये ही नरक में ले जाती हैं। शरीर को रथ कहते हैं इन्द्रियां ही इसके घोड़े होते हैं। मन को सारथी कहा गया है और प्राणायाम को चाबुक माना गया है। ज्ञान और वैराग्य की डोर में बंधे हुए मन रूपी घोड़े को प्राणायाम से आबद्ध करके जब अच्छी तरह काबू में कर लिया जावे तो धीरे-धीरे स्थिर हो जाता है जो मनुष्य को सौ वर्षों से अधिक काल तक कुश के अग्र भाग से जल की एक बूंद लेकर उसे पीकर रह जाता है। उसकी वह तपस्या और प्राणायाम दोनों ही बराबर हैं। विषयों के समुद्र में प्रवेश करके वहां फंसी हुई इन्द्रियों को जो आकुल करके अर्थात् लौटाकर अपने अधीन करता है उसके उस प्रयत्न को प्रत्याहार कहते हैं? जैसे जल में डूबा हुआ मनुष्य उससे निकलने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार संसार में समुद्र में डूबे हुए अपने आपको स्वयं ही निकालने का प्रयत्न करे और योग रूपी नदी का वेग अत्यन्त बढ़ जाने पर उसमें बचने के लिये अत्यन्त सुदृढ़ ज्ञान रूपी वृक्ष का आश्रय लेना चाहिए उसका आश्रय लेने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। जैसे रहीम ने कहा है।

रहिमन प्रीति सराहिये, मिले होत रंग दून।
ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफेदी चून॥

स्वाध्याय-धर्म

● एक योग साधक

स्वाध्याय दो शब्दों के मेल से बना है—स्व और अध्याय। स्व का अर्थ है अपना और अध्याय का अर्थ है अध्ययन करना। अर्थात् आत्म स्वरूप का अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। अतः आत्म-रमण करना तथा आत्म-रमण में सहायक सत्साहित्य का अध्ययन करना ही स्वाध्याय के प्रमुख अंग हैं। केवल उन्हीं शास्त्रों का अध्ययन, जो आत्म-स्वरूप का विवेचन करते हों, निज स्वरूप का बोध कराते हों। मन के राग-द्वेष आदि विकारों के निवारण में सहायक हों। ये सब स्वाध्यायमें स्थान पाता है। जो ग्रन्थ विषय-विकारों के उत्तेजक, प्रेरक तथा वर्द्धक हों, पतन के गर्त में डालने वाले हों, काम, क्रोध, मद, मोह बढ़ाने वाले हों, चित्त को अशान्त तथा अशुद्ध करने वाले हों, उनके अध्ययन का स्वाध्याय के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है। स्वाध्याय का वर्णन करते हुए कहा गया है—

श्रुतं च स्वाध्याय प्रवचने च।
सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च।
तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
अतिथ्यश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
मानुष च स्वाध्याय प्रवचने च।

यहाँ सदाचार, सत्य, तप, इन्द्रिय दमन, मन के शमन आदि प्रत्येक सत्कार्य के साथ स्वाध्याय तथा प्रवचन पर बल दिया गया है। इस प्रकार प्रत्येक कार्यके साथ स्वाध्याय एवं प्रवचन को जोड़कर स्वाध्याय का जीवन में कितना महत्त्व है, इस ओर संकेत किया गया है।

वस्तुतः स्वाध्याय वह धर्म या साधन-पथ है, जिसका आश्रय लेने पर साधक अपने अभीष्ट साध्यको पा लेता है। कारण साधक जिस ग्रन्थ का स्वाध्याय करता है, उसका संग उस ग्रन्थ के प्रणेता के साथ हो जाता है। ग्रन्थ प्रणेता ने अपने जीवनमें जो अनुभव असीम त्याग, तप, संयम साधना से प्राप्त किये हैं, उनके अध्ययन का सुअवसर स्वाध्यायी साधक को सहज ही मिल जाते हैं। वह उनसे लाभ उठा, कटीली झाड़ियाँ, पापों के गड्ढों, भूलों के भूलभुलैयों से अपने को बचाता हुआ सद्गुणों तथा सदाचार के सुपथ पर आगे बढ़ता चलता है और अपने गन्तव्य स्थल, लक्ष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

उपनिषद् में गुरु शिष्य को आदेश देता है—(१) सत्यंवद, (२) धर्मं चर, (३) स्वाध्यायान्माप्रमदः। इन तीनों सूत्रों को एक समान

रहीम कवि कहते हैं जैसे हल्दी और चून मिलने से हल्दी अपने रंग को छोड़ देती है और चून सफेद रंगको छोड़कर दोनों का रंग एक जैसा लाल हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा का परमात्मा में लय होने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। वह ब्रह्मरूप हो जाता है। ★

स्थान देकर सत्य बोलने तथा धर्मका आचरण करो जितना ही बल स्वाध्याय करने में प्रमाद न करने पर भी दिया गया है, यह स्वाध्याय के महत्व का ही द्योतक है।

योग शिखोपनिषद् में कहा गया है कि—"जैसे लकड़ी में स्थित अग्नि मन्थन के बिना प्रगट नहीं होती, उसी प्रकार हमारे भीतर ही विद्यमान ज्ञान-दीपक स्वाध्याय के बिना प्रदीप्त नहीं होता। आशय यह है कि स्वाध्याय से अज्ञान-अन्धकार का नाश हो ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता है। ज्ञान के प्रकाश से ज्ञानी विकार को त्याग कर स्वरूप को प्राप्त होता है और वह परमात्मा का दर्शन कर परमानन्द का अनुभव करता है।

स्वाध्याय का जितना महत्व आध्यात्मिक क्षेत्र में है, उतना ही महत्व सामाजिक एवं व्यावहारिक क्षेत्रों में भी है। आज विश्व में सामाजिक अव्यवस्था राजनीतिक संघर्ष, वैचारिक मतभेद, पारिवारिक कलह, आर्थिक संकट आदि असंख्य समस्याएं दिखाई पड़ रही हैं। इनका समाधान ही स्वाध्याय-धर्म में निहित है।

व्यावहारिक क्षेत्रमें स्वाध्याय की महिमा का वर्णन करते हुए संस्कृत कवि ने कहा है—

मातेवरक्षति पितेवहिते नियुङ्क्ते,
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मी तनोतिवितनोति चदिक्षु कीर्ति,
किंकिन साधयति स्वाध्यायन् प्रवृत्ति॥

—शुकनासोपदेश बाणभट्ट

अर्थात् स्वाध्याय माता के समान रक्षण-पोषण करता है, पिता के समान हित प्रवृत्ति में लगाता है, पत्नी के समान प्रसन्न चित्त बनाता है, लक्ष्मी एवं कीर्तिको प्राप्त कराता है, स्वाध्याय से क्या-क्या सिद्धि नहीं मिलती।

सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय के प्रभाव से अहंता, ममता, संकीर्ण एवं स्वार्थ-परक भाव मिट जाते हैं या शिथिल हो जाते हैं और नम्रता, सरलता, निर्लोभता, उदारता, वत्सलता एवं सहृदयता के भावोंका उदय होता है। उसका विश्व वात्सल्य भाव तो इतना विकसित हो जाता है कि वह पापी, दुराचारी, अज्ञानी से भी घृणा नहीं करता। वह घृणा करता है पाप, अज्ञान एवं दुराचार से। उसमें किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष या बदला लेने, उससे अनुचित लाभ उठाने एवं स्वार्थ साधन करने की भावना नहीं रहती। वह अपराधी के अपराध प्रतिकार-अपकार के बदले उपकार करके उसका हृदय परिवर्तन करके करना चाहता है। वह दूसरों के दुःखों को बँटाता है एवं अपना सुख चारों ओर बाँटता है। उसका प्रत्येक कार्य सर्व हितकारी प्रवृत्ति से अनुप्राणित रहता है।

स्वाध्याय और सम्पत्ति

जिस परिवार में ऐसे नरनारी हों उसका चतुर्मुखी विकास होगा। उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से परिवार के अन्य सदस्य भी स्वतः उपर्युक्त मानवीय गुणों को अपनाने लगेंगे। फलतः वह परिवार, सहृदयता, सरलता, वत्सलता, सहकारिता, स्नेह व सौख्य का आकार होगा और जिस परिवार का वातावरण इन गुणोंसे सुरभित हो, उस ओर धन-धान्य एवं सम्पदा के भ्रमर खिंचे चले आवें-इसमें सन्देह का कोई स्थान ही नहीं है। परन्तु यदि किसी दैवी प्रकोप से यदि कभी भौतिक धन-वैभव का अभाव भी हुआ तब

भी उस परिवार के पास दैवी गुणों का ऐसा अक्षय भंडार होगा, जिससे दुःखों को दूर भगाने में देर न लगेगी। विपत्ति कितनी ही बड़ी हो, परिस्थिति कितनी ही प्रतिकूल क्यों न हो, वह परिवार पारस्परिक स्नेह और सहकारिता, आशा और विश्वास के बल से, उसके दुःखद प्रभाव से अपनी रक्षा करने में सक्षम तथा समर्थ होगा। वे विपत्तियाँ एवं प्रतिकूल परिस्थितियाँ देखते ही देखते विलीन हो जायेंगी, वे वहाँ पर देर जमाने में समर्थ न हो सकेंगी।

इसके विपरीत कोई परिवार भौतिक धन-वैभव एवं सुख-सामग्रियों से परिपूर्ण भी हो,

(● पृष्ठ १८ का शेष)

खागये। वह पक्षी वास्तव में शैतान था, जो नहीं चाहता था कि तुम अमृत पीकर अमर हो जाओ।

यह दृष्टान्त वास्तविकता को समझने के लिए परमार्थी जीव के लिए बड़ा उपयोगी है। जीव सिकन्दर है और समय के संत सद्गुरु ही वे महात्मा हैं। ईश्वर का नाम अमृत है जो सद्गुरुओं के दरबार में प्राप्त होता है और वह शैतान कोई अन्य नहीं, जीव का अपना मन है। जीव जब सत्संगरूपी सरोवर पर पहुँचकर नाम अमृतका पान करने लगता है, तब ही जीव का मन उसे धोखा देता है और उसे अमृत का पान करने से रोकता है।

इसलिए इस मन से हर समय सावधान रहना है और उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों में नहीं आना है। सन्त सद्गुरुकी आज्ञा अनुसार कार्यवाही करते हुए ईश्वर की प्राप्ति करनी है और उसी में लय होकर सदा सर्वदा के लिए अमर हो जाना है। ●

परन्तु उसमें दैवी-सम्पद, स्नेह, वत्सलता, सहिष्णुता, सेवा-भाव का अभाव हो। संकीर्णता, स्वार्थपरता आदि अवगुण हों, जिनका होना सत्साहित्य के पठन, श्रवण के अभाव में बहुत सम्भव है तो वह परिवार कलह का आगार होगा, जिसे जीता जागता नरक ही कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

स्वाध्याय और पारिवारिक प्रेम

आज के परिवारों के कलह का मूल नारियोंमें स्वाध्याय का अभाव है। स्वाध्याय के अभाव से स्त्रियों की मनोवृत्ति में संकीर्णता, स्वार्थपरता एवं असहिष्णुता आ जाती है। अतः क्षुद्र वस्तुओं एवं बातों को लेकर कलह हो जाता है। अपशब्दों की बौछार होने लगती है। घर का वातावरण दूषित एवं दम घोंटने वाला बन जाता है और यह सर्व विदित है कि लक्ष्मी कलह या अभद्र वातावरण से बहुत डरती है। वह ऐसे स्थान पर एक क्षण भी ठहरना पसन्द नहीं करती। अतः कलहयुक्त वातावरण वाले परिवार से लक्ष्मी चली जाती है और वह परिवार निर्धनतारूपी दुःखों आ जाता है। यदि परिवार की स्त्रियों में स्वाध्याय की प्रणाली प्रचलित हो तो उपर्युक्त कलहकारी वातावरण बनने एवं लक्ष्मी के चले जाने की नौबत नहीं आ सकती तथा उस परिवार की भावी संतान भी दूषित वातावरण के प्रभाव से बचकर सद्गुणी होगी और वह परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व के लिए सबसे बड़ी एवं सच्ची सम्पत्ति सिद्ध होगी।

स्वाध्याय और सामाजिक हित

स्वाध्याय से जो लाभ पारिवारिक क्षेत्र में है, वे ही लाभ सामाजिक जगत में भी हैं। जिस समाज में सद्ग्रन्थों के पठन-श्रवण की

प्रणाली है, उस समाज के व्यक्तियों के आचरण में भी सद्गुणों का व्यवहार देखा जाता है। धर्म-ग्रन्थों में वर्णित महापुरुषों के आचरण आदर्शचरित एवं सूक्तियों, सुभाषितों तथा सिद्धान्तों का उन पर जाने-अनजाने ही ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उनके स्वभाव में सेवा-भाव एवं कर्त्तव्य-परायणता, उदारता, सहिष्णुता, सहकारिता, समता, वत्सलता आ जाती है। इन्हीं गुणों के सोतों से सींचने के फलस्वरूप समाज का पौधा सरस रहता, बढ़ता उन्नत तथा विकसित होता है। इन गुणों के सोते मिलकर सम्पत्ति-सरिता में परिणित हो जाते हैं। जिसके जल से सींचा जाकर समाज का उपवन सुख-सुविधा से हरा-भरा, धन-वैभव में भरपूर रहता है। यही नहीं, सद्ग्रन्थों के अध्ययन के प्रभाव से वह समाज मद्यपान, मांस-भक्षण, परस्त्री-सेवन, वेश्या-गमन, धूम्रपान, द्यूत आदि दुर्व्यसनों से बचा रहता है, ये वे दुर्व्यसन नहीं है जिनसे समाज पतन के गर्त में गिरता है। जिस समाज में ये दुर्व्यसन नहीं, उस समाज के उन्नत तथा समृद्ध होने में संदेह को कोई स्थान नहीं है। अतः स्वाध्यायशील समाज दुर्गुणों के अभाव के कारण धन-वैभव आधि-भौतिक समृद्धि से और सद्गुणों के कारण आत्मिक ऋद्धि से सम्पन्न होगा।

स्वाध्याय और राष्ट्रीय चरित्र

राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी स्वाध्याय का महत्त्व कम नहीं है। कारण किसी भी राष्ट्र का उत्थान और पतन उसमें बसने वाले मानव समुदाय के उत्थान पतन पर निर्भर करता है। मानव समाज का पतन उस समाज में व्याप्त दुर्व्यसनों पर तथा उत्थान दुर्व्यसनों के त्याग, नैतिकता, परोपकारिता, उदारता, सेवाभाव आदि सद्गुणों पर निर्भर करता है। जैसा कि पहले कहा गया है इन सद्गुणों के आविर्भाव एवं विकास में सद्ग्रन्थों के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः स्वाध्यायशील वातावरण वाले राष्ट्र के उत्थान सुख समृद्धि की वृद्धि में शङ्का को कोई स्थान नहीं है।

स्वाध्याय मानवता का प्रकाश स्तम्भ

स्वाध्याय मानव समाज की प्रगति के लिये पथ-प्रदर्शक प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता है। ऋषि, मुनियों के सतत साधना से अनुभूत ज्ञान के प्रकाश से लाभ उठाकर संकीर्ण, स्वार्थ परक, विग्रहकारी प्रवृत्तियों को छोड़कर मानव जाति युद्धों के विपत्ति एवं विनाश से आवृत्त गर्तों में गिरने से बच सकती है। तथा महर्षियों द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलकर प्रगति विद्युत रफ्तार द्रुति गति से बिना दुर्घटना का शिकार हुए आगे बढ़ सकता है।

अभिप्राय यह है कि स्वाध्याय का क्षेत्र जितना विकसित होगा मानव के विकास की परिधि भी उतनीही विस्तृत होगी। स्वाध्याय का जिन जिन क्षेत्रों में जितने जितने अंशों में प्रसार होगा, उन उन क्षेत्रों में उतने-उतने ही अंशों में सुख, शान्ति एवं समृद्धि की वृद्धि होगी। इसीलिए ऋषियों ने कहा है :—

स्वाध्यायान्नप्रमदः स्वाध्याय

प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तरीयो० शीक्षा०प्र० व अनुवाक १०)

अर्थात् शिक्षा एवं स्वाध्याय में प्रमाद न करें। सारांश यह कि स्वाध्याय धर्मजीवन में अत्यन्त आवश्यक है। इसे धारण करने में विश्व का कल्याण है।

धर्मशासित जीवन

★ श्री दर्शनानन्द

ऊर्ध्वं बाहुर्विरौम्येष

न च कश्चिच्छृणोति मे।

धर्मादर्थश्च कामश्च

स किमर्थं न सेव्यते ॥

—महा० स्वर्गा० ५/६२

भगवान् व्यास कहते हैं—मैं दोनों हाथ उठाकर कह रहा हूँ, किन्तु कोई मेरी बात सुनता ही नहीं। अरे, जिससे धन तथा काम-भोग मिलते हैं, उस धर्म का आचरण क्यों नहीं करते?

दूसरे धर्म सम्प्रदायों की बात मैं नहीं करता। जहाँ कर्मका निर्णय कयामत के दिन होता है, वहाँ धर्म एक निश्चित समय उपासना करने, सातवें दिन प्रार्थना करने तक सीमित हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। वैसे वे भी धर्म हैं और पूरे जीवन को अनुशासित करते हैं, परन्तु उनमें प्रमाद को अवकाश बहुत है, यह मानना पड़ेगा।

हिन्दू धर्म सनातन धर्म प्रारब्ध को मानता है और मानता है पुनर्जन्म को। पुनर्जन्म को मानने का अर्थ ही है प्रकृति के एक तथ्य को स्वीकृति देना और वह तथ्य है बीज-वृक्ष न्याय। आप खेती करते हैं या वृक्ष लगाते हैं। आपके वृक्ष या अन्न में अंकुर आने, उसके उगने-बढ़ने तथा फल देने में समय लगता है। खेत, खाद, पानी तथा अन्य प्रकार की अनुकूलताएँ अपेक्षित होती हैं। कुछ प्रतिकूलताएँ बीज को या अंकुर को मार देती हैं। कुछ वृक्ष या फसल को दुर्बल कर देती हैं। सब अनुकूलता हो तो एक बीज बहुत फल उत्पन्न करता है। इसी प्रकार एक कर्म आज किया जाता है। उस समय उसमें श्रम होता है। फल उसका बहुत होता है, परन्तु कालान्तर में होता है। देश, स्थान, समय, विधि, कर्म के उपकरण, कर्त्ता की योग्यता एवं सावधानी तथा श्रद्धा आदि अनेक बातों की अनुकूलता उस कर्म के पूर्ण फल के लिए अपेक्षित है। इनकी प्रतिकूलता कर्मको निष्फल कर सकती है या उसके फल को घटा सकती है।

कर्म अपना फल देता है और कालान्तर में जन्मान्तर में देता है। इस वर्ष बोयी जाने वाली फसल आगे खायी जायगी। पिछली फसल का अन्न अभी खाया जाता है। इसी प्रकार पिछले जन्म के कर्मों में से इस जन्म के भोगने के लिए प्रारब्ध बना है। जीवन के सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश, संयोग-वियोग, आयु तथा मृत्यु प्रारब्ध के अनुसार मिलते हैं। यह दूसरी बात है कि तत्काल खा लिये जाने योग्य जैसे कुछ शाक आदि होते हैं, वैसे ही अनुष्ठानादि कुछ कर्म प्रारब्ध बनकर तत्काल फल देने वाले होते हैं।

जीवन का पूरा निर्माण अपने भूतकालीन कर्मों के अनुसार हुआ है, वह हमारे सिर बलपूर्वक थोपा हुआ किसी निरंकुश स्वेच्छाचारी का विधान नहीं है। इस स्वीकृति का

फलितार्थ यह है कि जीवन-निर्माण के प्रति हम उत्तरदायी हैं। हम जैसा चाहें, अपना आगामी जीवन वैसा बना सकते हैं।

प्रारब्ध और पुनर्जन्म की इस मान्यताके कारण हिन्दू का सम्पूर्ण जीवन धर्म शासित है; क्योंकि धर्म सत्कर्म ही उत्तम भोग एवं अभीष्ट अर्थ का उत्पादक हो सकता है। पुरुषार्थ का प्रयोजन आगामी जीवन का निर्माण है हिन्दू के लिए। वर्तमान जीवन में भोग या अर्थ की उपलब्धि में पुरुषार्थ प्रायः सहायक नहीं है। वह तो प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होगा, यदि फल दानोन्मुख प्रारब्ध को रोककर तत्काल फलदायी नवीन प्रारब्ध का निर्माण अखण्ड पुरुषार्थ सकाम अनुष्ठानादि के द्वारा कर लिया जाय।

इस जीवन में अर्थ और भोग मिलने वाले हैं प्रारब्ध के अनुसार। आगामी जीवन में वे मिलेंगे इस जन्म के कर्म के सत्कर्म के अनुसार। अतएव अर्थ एवं भोग का मूल भी धर्म ही है। धर्माचरण जीवन में प्रधान होना चाहिए।

जीवन का लक्ष्य क्या! धन जुटाना? धन का यदि कोई प्रयोजन नहीं है तो धन जुटाने का अर्थ? धन बैंक में बहुत है। वह आपकी पास-बुक में जमा है या दूसरे की पास बुक में। क्या अन्तर पड़ता है? अन्तर तो तब पड़ता है, जब उसका उपयोग करना हो। उपयोग दो सम्भव हैं—सुखोपभोग तथा धर्म। धर्म के लिए धन आवश्यक नहीं है। धन हो तो उसका उपभोग कर लेना चाहिए धर्म में। न हो तो निर्धन भी सरलता से केवल सेवा से उतना धर्म अर्जित कर सकता है, जितना बड़े से बड़ा धनी अर्जित कर सकेगा। दरिद्र का एक पैसे का दान धनी के एक करोड़ रुपये का दान जितना ही, पुण्यप्रद है।

धन का उपयोग भोग, यह बात कही समझी जाती है। लेकिन क्या यह सत्य है? केवल धनसे ही भोग नहीं प्राप्त होते। भोग सुख की प्राप्ति के लिए अनुकूल प्रारब्ध चाहिए, मैंने ऐसे करोड़पति देखे हैं जो फलों का रस भी नहीं सकते। तोरई उबालकर उसका रस पीकर उन्हें जीवन पसीटना पड़ता है। ऐन्द्रियक शक्ति अपेक्षित है भोग के लिए और असंयमित भोग करने वाले से यह शक्ति छीन लेती है।

इसका तथ्य यह है कि जीवन का लक्ष्य न अर्थ है न भोग। लक्ष्य तो है मनुष्य जीवन का जन्म-मरण के चक्र से मोक्ष। उस मोक्ष का और अर्थ और भोग का भी साधन धर्म है। इसलिए मनुष्य के जीवन का आधार, जीवन का चालक एवं नियन्त्रक धर्म को होना चाहिए। मनुष्य वही ठीक अर्थ में मनुष्य है, जिसका जीवन धर्म शासित है। धर्म शासित जीवन का अर्थ है धर्मपूर्वक अर्थ का अर्जन। जो अर्थ धर्म से प्राप्त नहीं होता, जो धर्म का पोषण नहीं करता वह हमारे लिए अवांछनीय होना चाहिए क्योंकि जीवन की शुद्धि का आधार अर्थ है जीवन-निर्वाह सुखोपभोग की उपलब्धि का माध्यम अर्थ है। वह अर्थ धर्मार्जित नहीं होगा तो उससे प्राप्त समस्त उपकरण अपवित्र होंगे। अपवित्र अर्थ, उपकरण से धर्म नहीं होता है। उसके द्वारा किया गया धर्मकार्य फलवान नहीं होगा। मुनिजी ने कहा है—

सर्वेषा मेव शौचानां,
मर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न,
मृद्वारि शुचिः शुचिः ॥
—५/१०६

जिसका अर्थ पवित्र है वही पवित्र है। मिट्टी, पानी के उपयोग से अपने को पवित्र मानने वाला पवित्र नहीं है, क्योंकि समस्त पवित्रताओं में धन की पवित्रता ही सर्वोपरि कही गई है।

धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन मात्र धर्मानुशासित जीवन नहीं हो जाता, वह तो धर्मानुशासित जीवन की आधार भूमि है। उस धर्मार्जित धन का धर्मपूर्वक व्यय भी किया गया तो जीवन ठीक धर्म जीवन है। जो ऐसा करता है वह अब मोक्ष का साधक बनने योग्य है, यद्यपि है अभी वह विषयी ही। जब वह मोक्ष के साधन का अधिकारी बना और साधन करेगा तब मोक्षको प्राप्त होगा।

पामर, विषयी, साधक और सिद्ध ये चार कक्षायें मनुष्य की हैं। जो इन्द्रियों के भोगों को तथा उन भोगों की प्राप्ति के साधन धन को उचित-अनुचित किसी प्रकार जुटाने में लगा है वह तो पामर है, संसार में इसी श्रेणी के लोग अधिक हैं। जो धर्मपूर्वक धनोपार्जन करता है और उस धर्मोपार्जित धन से अपने वर्णाश्रम धर्म के लिए विहित जो सुखोपभोग हैं उनको ही भोगता है वह विषयी है, धर्मपूर्वक उपार्जित धन को धर्म कार्य, सेवा-कार्य में लगा देने वाला तथा धर्म पूर्वक जिन विषयों का सेवन किया जा सकता है, उनका भी त्याग करते हुए मन तथा इन्द्रियों का संयम करने वाला साधक है। इस साधन के दृढ़ एवं परिपक्व अभ्यास से जिनके राग-द्वेष, देहासक्ति, अहंकार तथा अविद्या का नाश हो गया। परमात्म तत्व का साक्षात्कार करने वाले वे महापुरुष सिद्ध कहे जाते हैं। मानव जन्म का लक्ष्य उन्होंने सिद्ध कर लिया।

मनुष्य पामर न बने वह कम से कम ठीक विषयी बने, जो विषयी हैं वे साधक बनें और साधक सिद्ध पद प्राप्त करें। यह हिन्दू धर्म की प्रेरणा और लक्ष्य है। अतएव हिन्दू-धर्म व्यक्ति के पूरे जीवन को शासित करता है। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जो धर्म के शासन से बाहर हो।

अर्थोपार्जन कैसे हो ? जीविका कैसे चलाई जाय ? इनमें धर्म का निर्णय चाहिए। पर कैसे बताया जाय, धर्म शास्त्र बतलायेगा। चिकित्सा कैसे हो ? यह औषधि ली जाय या नहीं ? धर्मशास्त्र की सम्मति चाहिए। उठने-बैठने, चलने-फिरने, सोने-जागने में धर्म शास्त्र की विधि है। यात्रा करने, कपड़ा पहनने, तेल लगाने, बाल बनाने में धर्मशास्त्र, दूसरी बात छोड़िये—शौच, लघु-शङ्का धर्म-शास्त्र की विधि, बच्चा पैदा करने में धर्म-शास्त्र। पूरी दिनचर्या में ऐसी कोई बात नहीं जो धर्म-शास्त्र की मर्यादा में बंधी न हो।

आज की नयी सभ्यता की चकाचौंध से चौंधियाये लोग व्यंग करते हैं—हिन्दू तो छींकने, खाँसने में भी धर्म-शास्त्र देखते हैं, किन्तु बात सच है। छींक खांसी के समय सभ्यता के नियमानुसार हाथ के सम्मुख रूमाल लगाने की बात वे न करते हों ऐसा नहीं है।

भोजन और जल इनसे तो हमारा शरीर

बनता है, ये तो जीवन निर्माण की मूल धातुएं हैं। अतः धर्मशास्त्र इनके सम्बन्ध में बहुत अनुशासन चाहता है। खाद्याखाद्य विवेक तो धार्मिक जीवन के लिए अनिवार्य बात है।

हिन्दू के पास जो अर्थ-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, नीति-शास्त्र, काम-शास्त्र हैं, उसका अब भी विश्व सम्मान करता है और उसे मूलाधार मानकर चले बिना आज के महा-विद्वानों की विद्या भी अपूर्ण रहती है। चाणक्य, सुश्रुत, चरक, वात्स्यायन आदि की वन्दना ही करते हैं आज के विद्वान भी और ये शास्त्र अपने-अपने विषय के प्रतिपादन में सर्वथा स्वतन्त्र सम्पूर्ण स्वच्छन्द हैं। अन्तर यही है कि जहाँ इनके व्यवहार की बात आती है, हिन्दू धर्म इनका धर्म अनुवर्ती मानता है। जहाँ धर्म-शास्त्र के अनुकूल उनकी विधि न पड़े वहाँ इनकी विधि त्याज्य है।

स्त्रीषु नर्मविवाहे च
वृत्यर्थे प्राण सङ्कटे।
गो ब्राह्मणार्थे हिंसायां
नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥

आचार्य शुक्र का यह नीति वाक्य है—स्त्रियों के साथ एकान्त क्रीड़ा में, हास-परि-हास में, किसी का विवाह सम्बन्ध स्थिर होता हो तो आजीविका या प्राण बचाने के लिए झूठ बोलना निन्दित नहीं है।

नीति वाक्य का यह उपदेश शुक्राचार्य ने अपने शिष्य दैत्यराज बलि को दिया। उस समय जब बलि भगवान वामन को भूमि दान करने जा रहे थे, बलि ने उसी समय इस नीति को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि यह नीति धर्म-शास्त्र के प्रतिकूल पड़ती थी। यह एक उदाहरण है इस बात के लिए कि हिन्दू समाज को नीति-शास्त्र आज की कूट-नीति का भी पूरा पक्का ज्ञान था, किन्तु धर्म के प्रतिकूल नीति हो तो वह त्यागकी उसके त्याग से होने वाली हानि उठा लेना ही गौरव माना जाता था।

आयुर्वेद में लहसुन-प्याज की बहुत-बहुत प्रशंसा है। अनेक ऐसी औषधियों की निर्माण विधि है, जिनमें मांस अथवा छोटे जीव पड़ते हैं। निघण्टु में विविध जीवों के रक्त-मांस आदि के गुणों का विस्तृत वर्णन है, किन्तु धार्मिक पुरुष ऐसी औषधियों का प्रयोग नहीं करते।

किसी वस्तु में किसी क्रिया में क्या गुण-दोष है—यह जानना एक बात है नीतिशास्त्र आयुर्वेद आदि इन गुण-दोष का परिचय कराते हैं। लेकिन धर्मशास्त्र मनुष्य के शुद्ध चरित्र पवित्र हृदय का निर्माण करने के लिए विधान करता है। आप क्या जान-बूझ कर कोई क्रिया कर सकते हैं, जिसका आपके मन पर कोई प्रभाव न पड़े। जब जान-बूझ कर सङ्कल्पपूर्वक कोई क्रिया की जायगी तो उसका मन पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़ेगा ही, अतएव जो धर्म मन के निर्माण चित्त शुद्धि को ही मानता है वह किसी भी क्रिया को अपने अनुशासन से बाहर कैसे रहने दे सकता है। कोई पदार्थ जो आपके सम्पर्क में आता है, वह सजीव हो या निर्जीव आप पर एक प्रभाव छोड़कर जाता है, इसलिए जो आपके मनो-निर्माण का दायित्व रखता है, वह आपकी प्रत्येक चेष्टायें अपके सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में अपना अनुशासन रखेगा ही। ऐसा न करे तो वह अपूर्ण धर्म होगा।

आत्मवत् सर्वभूतेषु

● डा० राजकुमारी मिश्रा ●

सबके सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख समझना हमारी संस्कृति का मूल आदर्श है। जिस प्रकार का व्यवहार मिलने पर हमें दुःख होता है, निश्चित ही वैसा ही व्यवहार हम यदि दूसरों के साथ करते हैं, तो दूसरे व्यक्ति को भी दुःख होगा, यह सोचकर सदा ही उचित व न्यायपूर्ण व्यवहार करना, सच-मुच अत्यन्त कठिन कार्य है। मन में निरन्तर यह विचार रहे कि हमसे किसी को शारीरिक अथवा मानसिक दुःख न पहुँचे। यदि ऐसी दृढ़ मानसिक स्थिति हो जाए तो हम कभी कोई ऐसा कार्य नहीं करेंगे जो व्यक्ति, समाज-विरोधी अथवा राष्ट्रविरोधी हो। उस स्तर पर चेतना अधिक व्यापक हो जायेगी। तब कोई झगड़ा न रहेगा। भाई-भाई में, पति-पत्नी में, विभिन्न धर्मों में तथा राष्ट्रों में सभी मनमुटाव समाप्त हो जायेंगे। ऐसे ही आदर्श वातावरण की प्रेरणा देते हुए हमारे ऋषि-मुनि कहते हैं—

मातृवत् सर्वभूतेषु,
परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः
पश्यति सः पंडितः॥

अर्थात्—पराई स्त्रियों को अपनी माता के समान, पराये धन को पत्थर के समान, तथा सभी प्राणियों को अपने ही समान जो समझता है, वही पंडित है। यह चेतना के विकास का अत्यन्त ऊँचा स्तर है। वरना आम तौर पर क्या होता है। हमारी बहू-बेटी को कोई बुरी नजर से देखे तो हमें बुरा लगता है। पर जरा सोचिये जब हम, दूसरों की स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं तो उन्हें भी तो उसी प्रकार बुरा लगेगा, जैसे हमें लगता है। पराया धन हड़पने को हम घात लगाये रहते हैं, परन्तु जब कोई हमारा ही धन हड़पता है तो हमें कितना बुरा लगता है। दूसरों की चुगली, झूठी या सच्ची बुराई करना, व गुणों पर दोषारोपण करने को हम सदा ही तैयार रहते हैं, पर जब हम पर ही कोई कीचड़ उछालता है, तो हमें कितनी तीव्र वेदना होती है। इन परिस्थितियों में हम "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की बात सर्वथा भूले रहते हैं।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। विधाता ने उसे गुणों व दोषों का पुतला बनाया है।

धारणाद् धर्मः जो धारण करे मनुष्य के अभ्युदय निःश्रेयस दोनों जिस पर निर्भर हों, मनुष्य के जीवन का अनुशासन हो वह धर्म है। धर्म के द्वारा अनुशासित जीवन ही सम्यक् जीवन होगा। उसके विपरीत से बहिर्गत जीवन का अर्थ होगा अपनी धार्मिक शक्ति से बाहर जाना-पतन विनाश की ओर जाता जीवन।

धर्म की पूर्णता इसी में है कि वह सम्पूर्ण जीवन का धारण एवं शासन करता हो। जो जीवन के किसी एक अंग को भी अपने अनुशासन से बाहर छोड़ देता है, वह धर्म उतने अंश में अपूर्ण है। मनुष्य जीवन की भी पूर्णता इसमें है कि उसका पूरा जीवन, उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया धर्म के द्वारा अनुशासित हो।

परन्तु साधना से व्यक्तित्व का निरन्तर विकास व परिष्कार (निखार) किया जाता है। योग साधना के इसी लाभ को नजर में रखते हुए आज का प्रगतिशील मानव योग मार्ग में प्रवृत्त हो रहा है। परन्तु केवल आसन प्राणायाम, बन्ध व मुद्रा, अथवा धारणा ध्यान द्वारा एकांगी लाभ ही होगा, सम्पूर्ण लाभ नहीं। आरोग्य लाभ, मानसिक शांति लाभ आदि तो योगसाधना के आनुषंगिक लाभ है। यदि हम आसन ध्यान अथवा प्राणायाम करते हैं तो हमारा स्वास्थ्य सुधरेगा व मन को शान्ति मिलेगी। परन्तु योगयात्रा का अन्तिम लक्ष्य है आत्म-दर्शन। यदि साधना करके भी मन कलुषित रहा तो साधक अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकेगा। आज प्रत्येक व्यक्ति अहंभाव तथा स्वार्थ से इस सीमा तक जकड़ा हुआ कि उसकी आँखें घटनाक्रम की वास्तविकता को देखते हुए भी नहीं, देख नहीं पातीं। परिवार में पति पत्नी, पिता पुत्र, भाई भाई अपनी-अपनी अहंतुष्टि अथवा स्वार्थपूर्ति के लिये झगड़ते हो रहते हैं। कभी-कभी झगड़े का मूल गलतफहमी होती है। परन्तु कभी-कभी तो दो झगड़ने वाली पार्टियों में से कोई एक शक्तिशाली पार्टी हठ करके अपनी ही बात पर दृढ़ रहती है व झगड़ा करती रहती है। अन्त में अपनी ही बात को मनवाकर रहती है चाहे वह गलत ही क्यों न हो। यह प्रवृत्ति सामान्य मानवों में प्रायः पाई जाती है, परन्तु साधना मार्ग के पथिकों को इस मनोरोग से बचना चाहिए। उन्हें सत्य बात का पता लगा कर वही बात माननी चाहिये जो सत्य हो अथवा उचित हो। वे अपनी अहंतुष्टि हेतु अपनी गलत बात भी यदि दूसरों पर लादते रहेंगे, तो उनका साधना मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा। मन्त्र, जप, पूजापाठ अथवा ध्यानसाधना का टिकट लेकर उन्हें कर्त्तव्य अकर्त्तव्य तथा मन-माना व्यवहार करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। यदि वे मनमानी करते हैं तो उन्हें आत्मदर्शन में बाधा आयेगी।

आज साधना के प्रति समाज का ऐसा ही दृष्टिकोण हो गया है। रिश्वत, चोर-बाजारी, मुनाफाखोरी, चरित्रहीनता, और भी न जाने क्या-क्या पाप करके, सभी पापों से योगाभ्यास के द्वारा छुटकारा पाया जा सकता। समाधि प्राप्ति की जा सकती है, यदि इस भावना से साधना की जा रही है तो वह नितान्त निष्फल है। भगवान् पतंजलि ने अष्टांगयोग की साधना में यम नियमों को प्राथमिकता है। इनमें अहिंसा का सर्वप्रथम स्थान है जिसका अर्थ है, कभी भी मन,वचन, कर्म से किसी को मानसिक अथवा शारीरिक कष्ट न पहुँचाना। इस साधना के साधक को कोई भी व्यवहार करने के पूर्व यही सोचना पड़ेगा कि यदि मेरे साथ कोई ऐसा व्यवहार करे तो मुझे कैसा लगेगा। यही मनकी शुद्धि, प्रसन्नता समाधि प्राप्ति का सर्वाधिक सरल उपाय है व सभी धर्म इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। बाइबिल में कहा है—Treat others, as you wish to be treated by.

श्रीमद्भगवद्गीता में जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योग के विभिन्न प्रकार समझाकर कहा—

आत्मौपम्येन सर्वत्र
समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं
स योगी परमो मतः॥

अर्थात्—वही योगी श्रेष्ठ है, जो सबके सुख-दुख को अपने (सुख-दुख के) समान ही मानता है। संसार बहुत विशाल है। उन्नति

सिद्धों एवं योगियों की अलौकिकता

● श्री कृष्णकुमार पाण्डेय

सिद्ध पुरुषों, योगियों का जीवन अलौकिक हुआ करता है। उनके जीवन-चरित्रों को समझना दुष्कर कार्य है। क्योंकि साधारण जन का जीवन चरित्र जिस मार्ग से प्रवाहित हुआ करता है सिद्धों का जीवन उस मार्ग से प्रवाहित न होकर किसी अन्य पन्थ का आश्रय लिया करता है। सामान्य जन "जायस्व" प्रियस्व की कोटि में ठहरे जन्म लेना और किसी प्रकार पेट की पूर्ति करने के लिए उद्योग करना और यही करते-करते संसार से अपनी लीला समेट लेना ही विशिष्टता रहित जीवन है। सिद्धों के जीवन का रहस्य बड़ा निगूढ़ होता है—पर बुद्धि उसके भीतर प्रवेशकर उसकी अलौकिकता की समीक्षा कुछ हद तक कर सकती है। द्रष्टव्य है कुछ उदाहरण—

आचार्य शंकर ने अपनी वृद्धा माता के स्नान के लिए नदी का प्रवाह बदल दिया था, जिससे नदी उनके गाँव की ओर से प्रवाहित होने लगी थी। नानकदेव की बहन एक दिन नानक से बोली—भाई साहब सारी लकड़ियाँ गीली हैं। भोजन कैसे बनेगा। नानक ने उत्तर दिया बहन चिन्ता न करो। आटा गूँथकर तैयार कर लो, तब हमें बताओ। बहन ने वैसा ही कर लिया। आटा गूँथा जाने पर वह बोली आटा गूँथ लिया है। नानकदेवजी ने आटे के साथ बहिन को बुलाया बहिन उनके कार्यकलापों से परेशान थी कि न तो लकड़ी है न आग ही है फिर कैसे रोटी बनाने को कहेंगे। नानक ने कहा—बहन मेरे पेट पर रोटी सेक लो। इतना कहकर वह जमीन पर लेट गये। थोड़ी ही देर में उनका पेट तवे की भाँति जलने लगा। बहन ने उनके पेट पर सारी रोटियाँ सेक डालीं। यह कार्य नानक की अलौकिकता के ही परिचायक है। इसी प्रकार अन्य सिद्धों का जीवन-चरित्र दिव्य अलौकिकताओं से भरा हुआ है। सिद्धों का समग्र जीवन संसार सागर में डूबे हुए को निकालना ही प्रमुख लक्ष्य होता है। इनमें "कर्तुं मकर्तुं म सर्वथाणव:" की क्षमता होती है। व्यक्ति के कार्य इन महापुरुषों की शान्ति में सहायक नहीं हो सकते हैं। ये

के मार्ग अनन्त हैं। अपने केन्द्र की उन्नति ही बाहरी विकास की नींव है। आत्मौपम्य की भावना हमें सर्वप्रथम अपने परिवार में ही करनी चाहिए। परिवार के सभी सदस्यों का सुख-दुःख, अपना ही सुख-दुःख समझना चाहिए। साधना में प्रगति के साथ-साथ आत्मौपम्य की भावना का विकास सामाजिक व राष्ट्रीय स्तर पर करना चाहिये। इससे साधक का अपना व उसके सान्निध्य में आने वालों का भी कल्याण होगा। ●

स्वयं व्यक्ति को चुनते हैं। क्योंकि मनुष्य के प्रत्येक शुभ कार्य पुण्य संचय में ही सहायक होते हैं। वैसे साधारण जन के प्रत्येक कार्य दर्प अहंकार संयुक्त होते हैं।

सिद्धों एवं योगियों के कार्य एक ही होते हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं होता है। दोनों ही शब्द एक ही तत्वके परिचायक हैं। 'गीता' में योगेश्वर भगवान् कृष्ण ने अपने अलौकिक कार्यों को स्वयं बताया है। जो उनकी विभूतियों के रूप में दृष्टिगत होते हैं। भगवान् अर्जुन से कहते हैं—हे कुरुश्रेष्ठ मेरी जो दिव्य विभूतियाँ हैं उनके विस्तार का अन्त नहीं है। लेकिन जो मुख्य-मुख्य हैं उनको मैं तुमसे कहूँगा। इतना कहकर अपनी विभूतियों के बारे में कहना शुरू किया। अर्जुन —समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित सबका मैं आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ। मैं ही इन्द्रियों में मन हूँ और समस्त प्राणियों की चेतना अर्थात् जीवन शक्ति हूँ। भगवान् ने बताया कि—अर्जुन जहाँ भी शक्ति का स्रोत है वहाँ मैं हूँ।

भगवान् राम धनुष यज्ञ में सम्मिलित होने जा रहे थे। रास्ते में एक शिला दिखाई पड़ी भगवान् राम विश्वामित्र से पूछते हैं—गुरुवर यह क्या है? यद्यपि भगवान् सब-कुछ जानते हैं, फिर भी पूछते हैं। विश्वामित्र भगवान् राम को अहिल्या के श्राप की कथा को सुनाते हैं, तथा यह भी कहते हैं कि यह आपके चरण रज को चाहती है। भगवान् राम अपने चरण को उस शिलासे स्पर्श करते हैं, जिससे उसका श्राप नष्ट हो जाता है। वह सुन्दर स्त्री के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसीलिए तुलसीदासजी ने कहा है—

अस प्रभु दीनबन्धु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसीदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल॥

अर्थात्—हे दुष्ट मन तू कपट-जंजाल को छोड़कर उनका स्मरण कर क्योंकि वे दीनबन्धु और बिना कारण ही दया करने वाले हैं।

गीध जटायु के प्रसंग में भी उनकी अलौकिकता स्पष्ट दिखाई देती है। जटायु भयंकर पीड़ा से व्याकुल है लेकिन उसने अपने प्राण को छोड़ा नहीं है। उसकी दशा को देखकर—

कर सरोज सिर परसेउ,
कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि धाम मुख,
बिगत भई सब पीर॥

अर्थात्—कृपासागर श्री रघुवीर ने अपने कर कमल से उसके सिर का स्पर्श किया। शोभाधाम श्री रामजी का परम सुन्दर मुख देखकर उसकी सब पीड़ा जाती रही। इसके अनन्तर जटायु कहते हैं—

"दरस लागि प्रभु राखेउँ प्रान।
चलन चहत अब कृपा निधान॥"

हे प्रभो! आपके दर्शन के लिए ही प्राण को रोक रखा था परन्तु अब जाना चाहते हैं। इस पर भगवान् कहते हैं—हे प्रिय इस बात को पिताजी से मत कहियेगा। इसको वही दुष्ट जाकर कहेंगे। इतना सुनने के बाद जटायु ने गीध की देह त्याग कर हरि का रूप धारण किया और बहुत से अनुपम आभूषण और पीताम्बर पहन लिये।

वस्तुतः सिद्धों एवं योगियों के कृतत्व दिव्य होते हैं। इसको विविध प्रसंगों से समझा गया। आधुनिक युग में भी ऐसे अलौकिक पुरुष हुए हैं। जिन्होंने अपने कर्मों के आधार पर लोगों को छकाया है। इनके कर्म वास्तव में गुरु की कृपा पर निर्भर हैं।

● शेष पृष्ठ ३७ पर पढ़िये

अस्मिता से सम्बन्धित—

प्रबोधक कथायें

● श्री डा० विजयसिंह

हम संसारी लोगों की बात कुछ और ही है। हम सर्वत्र मोह मदिरा मत्त हैं। जीवन का प्रत्येक कर्म अस्मिता द्वारा परिचालित है। यही नित नये संस्कारों का जनक है। मूढावस्था, क्षिप्तावस्था, विक्षिप्तावस्था के सभी जीव इस महेत क्लेश से घिरे हुए हैं। अतः ऐसे लोगों की अस्मिता से घटित कर्मों की विलक्षणता तो संसार में व्याप्त है ही, परन्तु वे बड़भागी, जिन्हें सद्गुरु कृपा, भगवद् कृपा से ध्यान समाधि प्राप्त है, वे भी समय समय पर इस अव्यक्त अहंकार से छले जाते रहे हैं। पौराणिक कथायें, पंचम वेद महाभारत तथा सन्त चरित्रों में अनेक ऐसी घटनाओं का वर्णन आया है जिसको पढ़कर अस्मिता के गूढ़ कूट जाल का अपरोक्ष ज्ञान होता है। साधनारत अभ्यासी साधकों के लिए ऐसे प्रबोधक कथाओं का अपना प्रबोधनीय अर्थ है। अतः कुछ ऐसी ही कथाओं को यहाँ संकलित करना अभीष्ट है।

नारद मोह

(रामचरितमानस)

"प्रभु माया दुरत्या"। भगवान् योगेश्वर की आवरण शक्ति बड़े-बड़े योगियों के लिए भी अलंघ्य है। अतः हिमालय में रहने वाले सिद्धगण भी सदैव समाधिरत रहने की ही चेष्टा करते हैं। पहलतरण होने पर आवरण सत्व स्वभाव को प्रभावित कर लिया करता है। समाधि का चिर काल का अभ्यास ही संयम का रूप धारण करता है। मानस में नारद मोह, काकभुशुण्डी मोह, सीता मोह, गरुड़ मोह की प्रबोध युक्त कथा कही गई है। जिसमें साधना जन्य अस्मिता का उदाहरण नारद मोह की कथा है। अन्य शक्ति जन्य अस्मिता की कथा है।

जब एक समय देवर्षि नारदजी हिमालय की मनोरम घाटियों में घूम रहे थे। उस समय भगवती गंगा की कल-कल निनाद, मनोरम नैसर्ग संसर्ग पाकर नारदजी का अन्तःकरण आत्मरत हो उठा। भगवान् पतञ्जलि ने सम्प्रज्ञात समाधिमें देवताओं द्वारा प्रलोभन देने की बात कही है—

लगता है, वितर्कानुगत समाधि में ही देवर्षि उस समय थे, अतः इन्द्र की प्रेरणा से काम, वसंत एवं अप्सरायें उन्हें छलने के के लिए पहुँचीं। अप्सरायें नृत्य, गान, क्रीड़ा, कामकौतुक द्वारा अन्तराय उत्पन्न करना चाहीं परन्तु—

"काम कला, कछु मुनिहि न व्यापी।
निज भय डरेउ मनोभव पापी॥"

तब इस भय से कि नारदजी श्राप न दे देवें वे सभी उनके शरणागत हुए। "भयउ न नारद मन कछु रोषा, कहि प्रिय बचन काम परितोषा। श्री नारदजी काम, क्रोध पर सहज जयी हुए परन्तु इस जय का ही अहंकार मन को मथ डाला।

तब नारद गवने सिव पाहीं ।
जिता काम अहमिति मन माहीं ॥

अपनी प्रशंसा किसे अच्छी नहीं लगती । नारदजी ने इस दिव्य मार जय की कथा भगवान शिव को आनन्दपूर्वक सुनायी । जगद्‌गुरु ने देखा महर्षि नारद अहंकार से ग्रसित हो बैठे हैं । अतः उन्हें समझाया, उपदेश दिया, परन्तु नारदजी को यह सब ठीक नहीं जँचा । "संभु बचन मुनि मन भाये । और अपनी कीर्ति गाथा सुनाने ब्रह्माजी के पास पहुँचे । फिर भगवान विष्णुदेव के पास गये और वहाँ भी वही पुराना राग अलापते रहे । काम चरित नारद सब भाषे । जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे ॥ इष्ट रूप सद्‌गुरु भगवान विष्णु ने कहा—

रुखि मुनि मोह होइ मन ताके ।
ग्यान बिराग हृदय नहिं जाके ॥
ब्रह्मचरज ब्रत रत मति धीरा ।
तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा ॥
नारद कहेउ सहित अभिमाना ।
कृपा तुम्हारि सकल भगवाना ॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी ।
उर अंकुरेउ गरब तरु भारी ॥

वही साधक अस्मिता का क्षय करने में सक्षम होगा जो ज्ञान (विवेकख्याति), वैराग्य युक्त हो । वशीकार संज्ञा वैराग्यम् को प्राप्त हो चुका हो । ब्रह्मचर्य तथा परम धैर्य युक्त अन्तःकरण वाला हो । इसमें कहीं कोई कमी हुई तब अन्तराय रूप क्लेश समुपस्थित होते हैं ।

यद्यपि सद्‌गुरु शिष्य के कल्याण हेतु ऐसी संरचना अन्दर एवं बाह्य में करते हैं जिससे उसके अन्तरायोंकी निवृत्ति हो जावे । कभी-कभी इस हेतु उन्हें अत्यन्त कठोर रूपक धारण करना पड़ता है । कबीर का कथन द्रष्टव्य है—

अन्तर हाथ संवारि दै । बाहर बाहै चोट ॥

नारदजी को अपनी भूल का ज्ञान हो इसलिए जगद्‌गुरु ने अपनी योगशक्ति का आश्रय लेकर—

बिरचेउ मग महुँ नगर
तेहिं सत जोजन बिस्तार ।
श्रीनिवासपुर तें अधिक
रचना बिबिध प्रकार ॥

इसी नगर के राजकन्या को देखकर कामजीत को काम भाव ने आ घेरा । स्मृति कामना के कारण जाती रही । भगवान से अपार रूपराशि की याचना की । परन्तु अकल्याण पथ पर जाने का साधन स्वयं प्रभु क्यों भला देते ? नारदजी का स्वयंवर में जो हाल हुआ वह सभी को पूर्ण विदित ही है । काम में विघ्न से क्रोध उत्पन्न होता ही है । अतः सब बात उलट गई । क्रोध भी इतना कि प्रभु पर ही चढ़ बैठे । जब प्रभु प्रेरणा से पुनः ज्ञान हुआ तो बड़ा सन्ताप, पश्चाताप, मन में उठा । साधना की प्रारम्भिक भूमिका स्वाध्याय एवं तप है । अतः भगवान ने नारद को आदेश दिया है—

जपहु जाइ संकर सत नामा ।
होइहि तुरत हृदय बिश्रामा ॥

× × ×

अस उर धरि महि बिचरहु जाई ।
अब न तुम्हहि माया निअराई ॥

सती मोह

-'संशयात्मा विनश्यति''

अस्मिता ही नाना विकारों की जननी है । ब्रह्म, ईश्वर तथा सद्‌गुरु तत्वरूप से एक हैं । इसी परम तत्व का अवतरण जहाँ भी जिस रूप में हुआ है उन्हें अवतार कहा गया है । शरीर धारी सद्‌गुरु को बाह्य नेत्रों से संसारी व्यक्ति कभी भी नहीं जान सकता । सत्य तो यह है कि जिस मात्रा में अपनी

कृपा शक्ति से प्रभु जीव के आवरण को हटाते हैं उतना ही वह उन्हें पहचान पाता है। आत्म प्रतिष्ठा पाये बिना सद्गुरु की, ईश्वर की, पहचान देहत्व के अन्दर कर सकना सर्वथा असम्भव है। सन्त वचन है—

जानहिं सोइ जिनि देहि जनाई।
जानत तुमहि तुमहि होइ जाई॥

योग दर्शन में अस्मिता से समुत्पन्न विकारों में संशय भी एक है। देखें—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति-भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।
॥ ३०/१ ॥

अन्तर जगत में जिनका प्रवेश है। जिन्हें पर्याप्त यौगिक शक्तियाँ उपलब्ध हैं। वे यदि अभी परमज्ञान और वैराग्य से संयुक्त नहीं हो पाये हैं तो अस्मिता किन्हीं न किन्हीं रूप में उन्हें पथ भ्रष्ट कर ही देता है। सद्गुरु व इष्ट में अनन्यभाव से समर्पण न होने पर संशय साधक की साधना को ग्रस लेता है। जिस समय दशरथ पुत्र श्री रामचन्द्र प्रिया वियोग में, नारद श्राप को उजागर करते हुए वन वन भटक रहे थे। भगवान शंकर द्वारा अप्रगट रूप से प्रणाम किये जाने पर सतीजी को श्री राम के ब्रह्मरूप एवं नर रूप की साम्यता के प्रति महान् संशय हुआ।

सती सो दसा संभु कै देखी।
उर उपजा सन्देहु बिसेषी॥

× × ×

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज
अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर
जाहि न जानत बेद॥

× × ×

अस संसय मन भयउ अपारा।
होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥

भगवान शंकर ने नाना युक्तियों एवं कथाओं से सती के संशय को नष्ट करना चाहा परन्तु विशेष संशय ने अन्तःकरण को घेर लिया था। अतः भगवान शिव को कहना पड़ा।

जौ तुम्हरे मन अति सन्देहू।
तौ किन जाइ परीछा लेहू॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।
करेहु सो जतनु बिबेक बिचारी॥

संशय, भ्रम उत्पन्न होने पर विवेक रह ही कहाँ जाता है। अतः सती सीता रूप धारण कर श्री राम के सन्मुख गईं। आशय था, संसारी मनुष्य कामनाओं की पूर्ति में सुख प्राप्त करता है। अतः विरहाकुल राम यदि मनुष्य हैं तो मेरे इस सीता रूप को देखकर प्रसन्न हो उठेंगे। अपहृत सीता संयोगवशात मिल गईं। परन्तु उधर भगवान की योगशक्ति जिसके लिए उन्होंने स्वयं कहा है—"मम माया दुरत्यया" जब भगवान श्री राम ने देखा—

सती कपटु जानेउ सुर स्वामी।
सबदरसी सब अन्तरजामी॥

कि सती संशय ग्रस्त है तो उन्होंने अपनी योगशक्ति दिखलायी।

प्रथमतया—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।
पिता समेत लीन्ह निज नामू॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू।
बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥

पुनः

जाना राम सती दुखु पावा।
निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा॥

× × ×

सती दीख कौतुकु मग जाता।
आगें रामु सहित श्री भ्राता॥

× × ×

निरखहि तहँ प्रभु आसीना ।
सेवहि सिद्ध मुनीस प्रबीना ॥

भगवान श्री राम की अनुकम्पा से उनका संशय मिट गया परन्तु हृदयेश्वर भगवान शिव की बाह्य कृपा से कुछ काल के लिये वंचित रह गयीं। अन्ततोगत्वा उस सती शरीर को योगाग्नि में दहन करना पड़ा तथा नूतन जन्म में कठोर तप करने के पश्चात् आराध्य कृपा पात्र पार्वती हुईं। संशय साधारण साधकों के लिये पतन का मूल कारण है। अस्मिता के ही विकार का यह एक सूक्ष्म रूप है।

गरुड़ मोह व सत्संग प्रभाव

जो पूर्णतया असम्प्रज्ञात समाधि में पहुँच चुके हैं, वे ही अस्मिता उपद्रव से सर्वथा मुक्त हैं। नाम, रूप, स्वभाव सब प्रकृति जन्य विकार हैं। अतः पराक्रमी, यशस्वी, मनीषी, मनुज किंवादेव अथवा सिद्धगण ही क्यों न हों अस्मिता अपना प्रभाव कारण विशेष की अवस्था में डाल देती है। नरपुंगव श्री राम, लक्ष्मण मायावी दानव इन्द्रजीत द्वारा नाग सर द्वारा प्रताड़ित, चेतना रहित, रक्तरंजित, भूलुण्ठित समरांगण में पड़े हुये थे। आदि कवि वाल्मीकि वर्णित रामायण में यह प्रसंग देखें—

शरैरिमावलं विद्धौ रुधिरेण समुक्षितौ।
वसुधायामिमौ सुप्तौ दृश्येते शल्यकाविव ॥

ऐसे काल में श्री विष्णुवाहन कश्यप नन्दन अमितबल युक्त गरुड़जी पधारे जिन्हें देखते ही माया रूप धारी कराल काल नाग सर रूप त्याग पलायमान हुए। परमपुण्य-शील गरुणदेव के स्पर्श एवं आलिंगन से श्री राम व लक्ष्मण अपने पूर्व तेज बल को प्राप्त हो गये।

एते नागाः काद्रवेयास्तीक्ष्णदंष्ट्रा
विषोल्बणाः ।
रक्षोमायाप्रभावेण शरभूता-
स्त्वदाश्रयाः ॥

तथा—

मोक्षितौ च महाघोरादस्मात्
सायक बन्धनात् ।

"मैंने इस महाभयंकर बाणबन्धन से आप दोनों को छुड़ा दिया।"

एवमुक्त्वा तदा रामं सुपर्णः स महाबलाः ।
परिष्वज्य च सुस्निग्धमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥

ऐसा कहकर महाबली गरुड़ ने उस समय परम स्नेही राम को हृदय से लगाकर उनसे जाने की आज्ञा ली।

श्री राम का मानवी रूप, राक्षस इन्द्र-जीत द्वारा मरणासन्न अवस्था, अपना प्रभाव यह सब अहंकार का जनक तथा मोह का जनक बन गया गरुड़ देव के लिए। गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी में देखें—

बन्धन काटि गयो उरगादा ।
उपजा हृदय प्रचण्ड बिषादा ॥
× × ×
व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा ।
माया मोह पार परमीसा ॥
सो अवतार सुनेउ जग माहीं ।
देखेउ सो प्रभाव कछु नाहीं ॥
× × ×
नाना भाँति मनहि समुझावा ।
प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा ॥
× × ×
व्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं ।
कहेसि जो संसय निज मन माहीं ॥

देवर्षि नारदजी समझ गये कि गरुण

महा मोह रूपी अस्मिता के प्रभाव में पड़ गये हैं। मेरे वश की बात नहीं है अतः प्रकट रूप में गरुड़ को ब्रह्माजी के पास भेज दिया। गरुड़जी ने ब्रह्माजी को अपना संशय बताया। ब्रह्माजी ने विचार किया—

हरि माया कर अमित प्रभावा।
विपुल बार जेहिं मोहि नचावा॥

अस्तु! उन्होंने भी भगवान शंकर के पास गरुड़ को भेजकर अपना पिण्ड छुड़ाया। कहीं दूसरे की गुत्थी सुलझाने में स्वयं न उलझ जायें। भगवान शिव कहीं जाने को उद्यत थे उसी समय गरुड़जी वहाँ पहुँचे और अत्यन्त समर्पित भाव से अपने संशय की बात का निवेदन किया। भगवान शंकरजी ने कहा—

मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही।
कवन भाँति समुझावौं तोही॥
तबहि होइ सब संशय भंगा।
जब बहु काल करिय सतसंगा॥

तुम काकभुसुण्डजी के पास जाओ। उनके परम तेजोमय आश्रम में जाकर सिद्ध संग लाभ करो। ऐसा करने से संशय तो तुम्हारा नष्ट होगा ही साथ ही नये उत्साह अनुराग की भी प्राप्ति होगी। श्री काकभुसुण्डजी के अनुग्रह से गरुण-मोह नष्ट हुआ।

बिनु गुरु होइ कि ग्यान,
ग्यान कि होइ बिराग बिनु॥

× × ×

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा,
बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥

★

सिद्धों एवं योगियों की अलौकिकता

(● पृष्ठ ३२ से आगे)

गुरुदेव की कृपा से इन्होंने अद्भुत कार्य किये हैं। विवेकानन्द इत्यादि महापुरुषों ने गुरु कृपा के आधार पर ही संसार में अमर हो गये हैं। ऐसे पुरुष निश्चय ही योग भ्रष्ट पुरुष रहे होंगे। जिनको कि बचपन से ही गुरु की कृपा मिलती रही। गुरु की कृपा अमरबेलिकी तरह कार्य करती है। साधारण साधक भी गुरुमुख होकर अलौकिक हो सकता है। गुरु की कृपा और उसका पुरुषार्थ उसे दिव्य बना देता है। इसीलिए हमारे सन्तों ने गुरु की वन्दना उन्मुक्त कण्ठ से की है। कबीर ने यहाँ तक कहा है कि—यदि सिर देने पर भी गुरु मिल जाय तो भी सस्ता समझना चाहिए।

यह तन विष की बेलरि, गुरु अमृतकी खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान॥

दादू दयाल ने भी सतगुरु की महिमा को बताते हुए कहा है—

दादू सतगुरु सहज में, किया बहुत उपकार।
निर्धन धनवंत करिलिया, गुरु मिलिया दातार॥

यहाँ पर निर्धन धनवंत का अर्थ कनक, कंचन नहीं, अपितु साधन रूपी धन से साधक को धनवान करने को बताया है। इस प्रकार साधन रूपी धन से धनवान बनाकर गुरुदेव ने बहुत उपकार किया है। सारे संत महात्मा इन्हीं सिद्धों एवं योगियों के शक्ति के प्रतीक हैं। ●

निःस्वार्थ धर्म की कसौटी है। जो जितना अधिक निःस्वार्थी है, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक और शिव के समीप है . . . . । और वह यदि स्वार्थी है, तो उसने चाहे सभी मन्दिरों के दर्शन किये हों, चाहे वह रंगे हुए चीते के समान हो, फिर भी वह शिव से बहुत दूर है।

—स्वामी विवेकानन्द

श्री प्रभुजी द्वारा—

राजेश के बैल की रक्षा

● श्री केशवदेव उपाध्याय

'श्री सिद्धयोग' के नियमित पाठक, अवांछनीय तत्वों द्वारा श्री राजेश तिवारी के अपहरण एवं श्री महाप्रभुजी द्वारा उसे उसके घर तक पहुंचाने की घटना से परिचित होंगे। श्री तिवारी बलिया जिले के सोगईबांध गांव के निवासी हैं। आज से करीब चार साल पूर्व अवांछनीय तत्वों ने पुरानी रंजिश वश, जब वह अपने खेत की निगरानी कर रहा था उसका अपहरण कर लिया। अपहरण के समय उसकी अवस्था मात्र चौदह-पन्द्रह वर्ष के बीच ही थी। उसकी माँ ने आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेवजी महाराज के चरणों में इस दुःखद घटना को सुनाते हुए विलाप करके निवेदन किया था कि श्री प्रभुजी आप ऐसी कृपा करें कि हमारा लड़का वापस आ जाय। श्रीगुरुदेव के प्रति श्री राजेश की माँ की श्रद्धा बलवती होती गई एवं उसने पूरी लगन एवं विश्वास के साथ श्रीप्रभुजी एवं श्रीमहाप्रभुजी की आरती, पूजन, मनन एवं चिन्तन का करीब एक वर्ष का समय इसी प्रकार व्यतीत किया। इस एक साल के समय में उसे भी बड़े ही विलक्षण स्वप्न हुए एवं उसके बच्चे राजेश को भी श्रीमहाप्रभुजी ने अपहृत-स्थान में बार-बार स्थूल रूप से दर्शन दिया। एक बार दर्शन देकर जब वे वहां से जाने लगे तो राजेश ने कहा कि बाबाजी! अब तो आप जा रहे एवं अब हमें बहुत कष्ट होगा। श्री महाप्रभुजी ने उससे कहा कि बेटा! तुम इतने घबड़ाते क्यों हो? तुम जब भी याद करोगे हम तुम्हारे पास आ जायेंगे। एक साल का समय व्यतीत होते-होते श्री महाप्रभु जी राजेश को अपने साथ लेकर अपहृत-स्थान से उसके घर पर पहुंचा दिया। श्री राजेश हमारे दादा गुरुदेव श्री महाप्रभुजी को बाबा जी ही कहकर सम्बोधित किया करता है। उसको अपने घर आये भी करीब तीन साल हो रहे हैं। अपने गांव में रहते हुए राजेश पर जब भी कोई मामूली कष्ट या दुःख की बात होती है तो वह अपने बाबाजी को याद करता है एवं उसके बाबाजी आकर उसे कष्ट से मुक्तकर दिया करते हैं। श्रीराजेश तिवारी पर होने वाली श्री महाप्रभुजी की कृपायें समय-समय पर अपनी इस पत्रिका में छपती भी रहती हैं। श्री तिवारी के साथ प्रायः श्री महाप्रभुजी की कृपाओं की घटनायें घटित होती ही रहती हैं। जब कभी भी श्रीतिवारी से मिलने का सुयोग बना श्री महाप्रभुजी के साथ हुई उसकी मुलाकात एवं दादा गुरुदेवजी के कृपा-चरित्र अवश्य ही सुनने को मिल जाया करते हैं। अभी पिछले महीने श्री राजेश एवं उसकी माँ से मिलने का सौभाग्य मिला था। राजेश ने अपने ऊपर आई इस विपत्तिपूर्ण घटना को स्वयं बतलाने का कष्ट किया था। उसकी घटना को उसके

ही शब्दों में लिखकर समझने एवं समझाने का प्रयास किया जा रहा है।

राजेश ने बतलाया कि मैं गन्ना के रस निकालने वाले कोल्हू में लगाये गये दो बैलों को हाँक रहा था। जब गन्नेकी पेराई समाप्त हो गई तो मैं बैलों को ले जाकर चरन पर बांध दिये एवं उन्हें वहाँ अच्छी प्रकार से खिलाया-पिलाया। गन्ने का रस एक कड़ाहे में पकाया गया एक भट्ठी पर, जो जमीन की सतहस नीचे ही बनाई गई थी। इस गोलाकार में बनी गुड़ पकाने वाली भट्ठीका व्यास करीब दो मीटर एवं जमीन के लेविल से उसकी गहराई करीब एक मीटर नीचे है। गन्ने के खोइये एवं इसकी पत्ती को ही भट्ठी में जला कर गुड़ बनाने की परम्परा आज भी देहातों में प्रचलित है। रस पकाकर गुड़ बना लिया गया एवं उसके बाद सब लोग गुड़ के साथ घर चले गये। अब उस स्थान पर जहाँ गन्ने के रस निकालने एवं उसके गुड़ बनाने का कार्य होता है, श्री राजेश, उसका छोटा भाई श्री समय एवं एक-दो छोटे बच्चे ही थे। सायंकाल करीब ८ बजे का समय था, क्योंकि राजेश के अनुसार सूर्यास्त होने के करीब दो घण्टे बाद की घटना है। उस समय गुड़ पकाने वाली भट्ठी पर गुड़ बनाने का कार्य समाप्त हुए अभी एक घण्टे से भी कम का ही समय व्यतीत हुआ होगा। राजेश का छोटा भाई कुछ पढ़ रहा था एवं दो बच्चे सोये हुये थे। राजेश ने सोचा कि दोनों बैल अब अच्छी प्रकार से भोजन करके तृप्त है। अब इन्हें चरन से हटाकर दूसरे स्थान पर-जहाँ रात के समय बाँधे जाते हैं, कर दिया जाय, जहाँ वे अच्छी प्रकार से आराम कर सकें। अपने नित्य के व्यवहार में वह एक-एक बैल को चरन से खोलकर ले जाता था एवं गौशाले वाले स्थान पर बाँधता था, परन्तु आज उसके मन में आया कि दोनों बैलों को साथ ही चरन से खोलकर ले चलूँ। उसने चरन से दोनों बैलों को साथ-साथ ही खोला एवं उसे दूसरे स्थान पर बाँधने के लिये लेकर चल दिया। मात्र दस कदम की दूरी तय करने के बाद दोनों बैल अपनी-अपनी तरफ खींचने लगे। इस प्रभु के प्यारे बच्चे ने बैलों की रस्सी को मजबूती से पकड़े रहने का प्रयास किया परन्तु संयोग ऐसा हुआ कि दोनों बैलों की रस्सी उसके हाथ से छूट गई। अब वह बड़ा परेशान हुआ, परन्तु करता ही क्या! उसके हाथ से रस्सी छूटने के बाद एक बैल जो कुछ ज्यादे उम्र का था वह तो रात्रि में अपने बाँधे जाने वाले स्थान पर जाकर खड़ा हो गया। दूसरा कुछ समय तक वहीं आसपास कूदता-फाँदता रहा एवं कुछ मिनट बाद अपनी इसी हरकत के चलते चलते गुड़ पकाने वाली भट्ठी में जाकर गिर गया। भट्ठी में गिरने के बाद उसने (बैल ने) दो बार जोर-जोर से आवाज भी लगायी। राजेश के सामने ही यह घटना घटित हुई। अतः वह बड़ा ही भयभीत एवं सशंकित हुआ उसने सोचा कि भट्ठी में आग है, यह बैल तो आज इसी में जलकर स्वाहा हो जायेगा एवं सबसे ज्यादे इस पाप की जिम्मेदारी हमारी ही बनती है। दूसरी बात, उसने सोचा कि सबेरे हमारी भी मुसीबत आ जायेगी। परिवार वाले इतनी डाँट, फटकार एवं पिटाई करेंगे कि हमारा भी सब कर्म हो जायेगा। ये दोनों विचार उसके मन में एक मिनट के

अन्दर ही आये एवं गये। संकट के समय हमारे जिलाधारी महाप्रभुजी की याद उनके बच्चों को बहुत आती है। जब राजेश पूरी तरह से निराश हो गया कि अब किसी भी प्रकार भट्टी में गिरे बैल को बचाया नहीं जा सकता एवं बैल को अपनी आँख के सामने ही भट्टी में छटपटाते देखा तो उसकी आँख से अश्रुधारा बहने लगी एवं उससे यह दृश्य देखा न गया। उसने अपनी आँखें बन्द करली एवं चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा, बाबाजी बैल की रक्षा करो। उसकी इतनी बात अभी समाप्त भी नहीं हुई थी कि उसे आवाज सुनाई दी और यह आवाज उसके चिर-परिचित बाबाजी की थी। उसके बाबाजी ने कहा कि अरे आँखें क्यों बन्द कर ली, आँखें खोल एवं चलकर सामने से बैल की रस्सी पकड़।

अपने बाबाजी की यह आज्ञा सुनकर राजेश ने अपनी आँखें तत्काल खोल दीं। आँखें खोलते ही उसने देखा कि बाबाजी बैल के पीछे खड़े हैं एवं वह भाग्यशाली बैल अपनी गर्दन पीछे करके उनकी सुन्दर छवि को निहार रहा है तथा उसकी आँखों से लगातार पानी गिर रहा है। कहनेका तात्पर्य यह था, कि बैल भी उनका दर्शन कर प्रेमाश्रु बहा रहा था। राजेश ने जब श्री बाबाजी को देखा तो बाबाजी मुस्करा रहे थे एवं अपनी मनोहर मुस्कान के साथ ही उन्होंने राजेश से बैल की रस्सी पकड़ने का आदेश इशारे से ही दिया। श्री राजेश ने दौड़कर बैलके गले में बाँधी गयी रस्सी का एक सिरा पकड़ लिया। श्री राजेश द्वारा रस्सी पकड़ने के बाद श्री प्रभुजी ने अर्थात् हमारे, आपके दादा गुरुदेव एवं राजेश के बाबाजी ने कहा कि अरे, इस आग में से निकलता क्यों नहीं, हमारे बच्चे को क्यों परेशान कर रहा है।

इतना कहकर बाबाजी ने बैल के पिछले हिस्से पर अपना बाया कर-कमल रखते हुए आदेश दिया कि इसे अपनी तरफ खींच लो बेटा। राजेश ने उनकी आज्ञा पालनार्थ बैल को अपनी तरफ खींचने का प्रयास किया एवं बैल बाबाजी की तरफ ही अपना मुँह किये एक छलांग में उस भट्टी से बाहर आ गया। उसके बाद राजेश के बाबाजी ने कहा कि अब मैं जा रहा हूँ बेटा। इतना कहकर, बाबाजी राजेश के सामने से ही अन्तर्ध्यान हो गये एवं अन्तर्ध्यान होते हुए समय अपनी मधुर मुस्कान के साथ इतना कह गये कि बेटा! संकट की घड़ी में घबड़ाना नहीं चाहिए। श्री राजेश ने बतलाया कि हम और हमारा बैल अपनी आँखों से यह दृश्य देख रहे थे एवं हम सबों के सामने से ही बाबाजी गायब हो गये। बाबाजी के अन्तर्ध्यान हो जानेके बाद राजेश के मन में आया कि हमने तो बाबाजी को प्रणाम भी नहीं किया।

अतः इस घटना के बाद उसे बड़ा ही अफसोस हुआ। उसके बाद वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। वह उस स्थान पर चला गया, जहाँ बाबाजी खड़े हुए थे एवं उसने उस स्थान की रज उठाकर अपने सिर पर लगायी। वह वहीं बैठ गया एवं प्रार्थना करने लगा कि बाबाजी आप जैसा दयालु कोई नहीं है। आपको सत्य ही लोग करुणा सागर कहा करते हैं। आप अकारण ही कृपा करते रहते हैं। आप जैसा दयालु आज तक न कोई हुआ है और न आगे होगा। परन्तु आप यह बतलायें कि बिना हमारे प्रणाम किये, आप क्यों चले गये। खैर! आप तो स्वतन्त्र हैं। हम अपना प्रणाम आपको तो भेज ही रहे हैं आप इसे स्वीकार करें या न करें। इस प्रकार करीब डेढ़ घण्टे तक वह यही कार्य करता रहा। कभी वह उस स्थान

की रज उठाकर अपने शरीर पर लगाता, जहाँ उसके बाबाजी खड़े थे, कभी उन्हें बार-बार उसी स्थान पर प्रणाम करता, कभी उपरोक्त प्रकार से बोलता एवं कभी बिल्कुल शान्त होकर दोनों आँखों से आँसू बहाता। राजेश का छोटा भाई संजय भी बैल के भट्टी में से निकलने के तुरन्त बाद वहाँ पहुँच गया था एवं अपने भाई के इस प्रकार के कार्य देखकर वह बड़ा ही घबड़ाया-सा गया। वह सोच रहा था कि उसका बड़ा भाई राजेश शायद पागल तो नहीं हो गया है। उसने कई बार अपने भाई के शरीर को हिला-हिलाकर कहा कि भैया यह सब क्या कह रहे हैं, किसको प्रणाम कर रहे हैं, यहाँ तो कोई है नहीं। यहाँ की गन्दी मिट्टी अपने शरीर में क्यों लगा रहे हैं। श्री राजेश ने अपने छोटे भाई की किसी भी बात का उत्तर नहीं दिया और वह अपना कार्य उपरोक्त प्रकार से ही करता रहा।

जब संजय बोलते-बोलते काफी परेशान हो गया तो उसने जाकर अपनी माताजी से प्रार्थना की कि माँ जी! भैया पता नहीं क्या! बाबाजी बाबाजी कहकर प्रणाम कर रहे हैं एवं कभी बोलते हैं और कभी शान्त हो जाते हैं। उसकी इस बात को सुनकर, उसकी माताजी, उसके पास अपने गुरुमन्त्र का जाप करते हुए जा रही थी। कि उन्होंने देखा कि उनके बड़े लड़के राजेश ने घर में प्रवेश किया। घर में प्रवेश करते ही उसने माताजी से कहा कि माँ जी! जल्दी पूजागृह में चलो, हम बाबाजी के स्वरूप को प्रणाम करेंगे। उसकी माँ ने हाथ पैर धोकर स्वरूप का दर्शन कराया। श्री राजेश स्वरूप को प्रणाम कर वहीं बैठ गया एवं थोड़ी देर तक वहीं बैठा रहा। उसके बाद वह जब वहाँ से उठा तो उसने अपनी माँ से श्री बाबाजी की इस अकारण, करुणा कृपा द्वारा रक्षित बैल के प्राणरक्षा की इस घटना का सविस्तार वर्णन किया।

अब आप जरा उस विषम परिस्थिति पर विचार करने का कष्ट करें, जो बैल के भट्टी में गिरने के बाद उपस्थित हुई होगी। उस भट्टी में श्री राजेश के कथनानुसार आग अभी थी एवं आग की गर्मी एवं उसमें जलने की वजह से ही बैल ने जोर-जोर से दो आवाजें लगायीं। यदि आग नहीं होती तो शायद श्री राजेश को इतना भयभीत एवं सशंकित नहीं होना पड़ता। वह तो इसी कष्ट से घबड़ा गया कि आज इस समय उसकी आँखों के सामने ही उसका बैल जल-कर राख हो जायेगा। परन्तु आश्चर्य तो इस बात से हुआ कि अपनी सहजावस्था में आने के बाद टार्च एवं लालटेन की रोशनी लेकर श्री राजेश जब अपने भाई एवं अपनी माँ के साथ उस बैल के पैर एवं शरीर के अंगों को देख रहा था कि, कितना जला हुआ है तो अंग जलने की बात तो दूर रही, उस बैल के शरीर का एक बाल भी इन लोगों को झुलसा हुआ भी नजर नहीं आया। इस घटना से उसे एवं उसकी माँ को कितनी प्रसन्नता हुई होगी इसकी बात तो भी ये लोग ही जानें। अब जो मुझे अपने गाँव जाने का सुयोग मिलता है मैं श्री राजेश एवं उसकी माँ से मिलने का प्रयत्न करता हूँ। जब भी मुलाकात हुई श्री राजेश ने कोई न कोई ऐसी घटना का वर्णन सुनाया जिससे उसके बाबाजी की, उसके ऊपर अकारण कृपा सहायता का एह-सास हुआ। श्री राजेश की स्थिति बड़ी ही विचित्र सी हो है। उसकी माँ ने हमसे बत-लाया कि श्री महाप्रभुजी तो इसे जब यह चाहता है दर्शन दे देते हैं एवं इसके सर्व कार्य करते हैं एवं प्रत्येक संकट में प्रत्यक्ष रूप से

इसकी सहायता किया करते हैं। यह बाबाजी से कहकर हमारे ऊपर क्यों नहीं कृपा करा देते। मैंने हँसते हुए राजेश से कहा कि अरे भाई! बाबाजी से कहकर अपनी माँ पर भी थोड़ी कृपा करा दो। अपनी सहज भाषा में राजेश ने कहा कि भैया! हम उनसे कहने या प्रार्थना करने का प्रयास नहीं करते। जब भी संकट की घड़ी आती है, अनायास बाबाजी की याद आ जाती है और याद आते ही बाबाजी उपस्थित हो जाते हैं। उसकी सरल बातों को सुनकर मन को बड़ा ही आश्चर्य एवं हर्ष होता है कि कितना भाग्यशाली है यह बालक आरती, पूजा, मंत्र-जाप एवं स्वाध्याय-ध्यान द्वारा हम लोग ध्यान व स्वप्नमें जिस लीलाधारी के दर्शन पाने के लिए लालायित रहते हैं, वही हमारे दादा गुरुदेवजी अपना स्थूल दर्शन इसे अनायास ही दिया करते हैं। श्री राजेश के साथ संस्कार होने के कारण उसका बैल भी आज उनका दर्शन कर निहाल हो गया एवं विलक्षण प्रकार से उसकी प्राण-रक्षा हुई। आपको यह जानकर भी आश्चर्य होगा कि राजेश परिवार का कोई भी सदस्य आज तक प्रत्यक्ष या स्थूल रूप से श्री-चरणों में दीक्षित नहीं है। अपनी टूटी-फूटी भाषा में लेख को अब विश्राम की तरफ ले जाते हुए 'श्रीसिद्धयोग' के सुयोग्य पाठकों से सानुरोध प्रार्थना है कि लेख की त्रुटियों पर क्षमा करने की कृपा की जाय। लेख के ही माध्यम से इस घटना को सप्रेम से सुनाने वाले श्रीराजेश एवं उसकी आदरणीया माँ को बार-बार मैं साधुवाद अर्पित करता हूँ। अकारण दयालु परम योग-योगेश्वर अपने दादा गुरुदेव महाप्रभु श्रीरामलालजी महाराज एवं आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेवजी महाराज के युगल-चरणों में कोटिशः साष्टांग प्रणाम समर्पित करता हूँ, जिनके सम्बन्ध में हमारे एक आदरणीय गुरु-भाई ने बिल्कुल ठीक ही लिखा है—

सब पर करुणा करते,
केवल शिष्यों पर ही नहीं।
मेरे प्रभुजी से तो,
बढ़कर कोई भी नहीं॥ ●

अमृत कण—

मानव सृष्टि का विभूषण है ?

मानव सृष्टि का विभूषण है। मानव ने अपने ज्ञान और विज्ञान के आधार पर बुद्धि के द्वारा सभ्यता और संस्कृति का विकास किया। उसने साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान आदि की उत्कृष्ट रचना की, समुद्र के वक्षः-स्थल पर विशाल पोत चलाये, उसकी गहराइयों में उतर कर तल देखा, उत्तुङ्ग शिखरों को लाँघ कर उन पर विजय पायी तथा आकाश में घूमकर अन्य ग्रहों पर विहार करना सम्भव कर दिया।

पशु जगत् में पशु अपने सुदृढ़ नख, कीले- पूँछ और सींग की सहायता से भी आत्म रक्षा नहीं कर पाता। किन्तु मानव ने इनके बिना ही, बुद्धि के सहारे, प्रकृति पर विजय की दुन्दुभी बजा दी।

—शिवानन्द

पुराण परिचय

❀ श्री प्रो० माधव अनन्त फड़के

भारतीय साहित्य में पुराणों का विशिष्ट स्थान है। पुराण शब्द का प्राचीन अर्थ है प्राचीन या पुरातन। इसमें प्राचीन कथानक, वंशावली, इतिहास, भूगोल तथा अन्य अनेक महत्वपूर्ण विषय होने के कारण इस साहित्य का नाम पुराण है। पुराण शब्द की कुछ निरुक्तियाँ इस प्रकार हैं—(i) पुराणं आख्यानं पुराणम्। (ii) जगतः प्राग् अवस्था सर्ग प्रतिपादक वाक्य जातं पुराणम्। (iii) पुरातनु आनयति इति पुराणम्। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुरुष और प्रकृति के विस्तार में संलग्न साहित्य एवं संसार की उत्पत्ति और विकास क्रम के बोधक साहित्य को पुराण कहा जा सकता है।

महाभारत में प्रतिपादित व्यासजी के वचन से पुराणों का महत्व स्पष्ट हो जाता है। 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।' अर्थात् इतिहास पुराण के ज्ञान से ही वेदार्थ का प्रतिपादन संभव हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि वेदों में प्रतिपादित गूढ़ तत्वों का स्पष्टीकरण विभिन्न कथाओं के आधार से पुराणों एवं रामायण, महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पुराणों में प्रतिपादित विषयों के आधार पर ही पुराण-लक्षण इस प्रकार हैं—

सर्गश्च प्रति सर्गश्च
वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं
पञ्च लक्षणम्॥

अर्थात् पुराणों में पाँच विषयों का वर्णन होना चाहिए—

(१) सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन, (२) प्रलय एवं सृष्टि का पुनः प्रादुर्भाव, (३) देवों और ऋषियों की वंशावली, (४) प्रत्येक मनु काल और उस समय की प्रमुख घटनायें, (५) सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं का जीवन-चरित्र।

अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि पुराणों की रचना कब हुई एवं किसने की?

पुराणों की रचना की पूर्व सीमा ६०० ई०पू० एवं अन्तिम सीमा ५०० ई० गौतम एवं आपस्तम्ब धर्म-सूत्र एवं महाभारत में पुराणों का उल्लेख है। इन धर्म-सूत्रों का समय ५०० ई० पू० है। अतः पुराणों का प्रारम्भ ६०० ई०पू० हुआ होगा। पुराणों में गुप्तकालीन राजाओं का वर्णन है, परन्तु हर्षवर्द्धन (६०६-६४७ ई०) और उसके बाद के राजाओं का उल्लेख नहीं है। अतः पुराणों की अपर-सीमा ५०० ई० के लगभग है। इसी बात का प्रतिपादन डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने किया है। जहाँ तक इसकी रचना किसने की, यह प्रश्न है तो इसका उत्तर है कि व्यासजी ने इन पुराणों की रचना की। जो कुछ भी हो इतना निर्विवाद है कि पुराण साहित्य विशाल है एवं उसमें

प्रतिपादित विषय ज्ञान की गरिमा भारतीय चिन्तकों के गहन चिंतन का प्रतिफल है। परवर्ती भारतीय साहित्य का आधार भी पुराण ही है। इन्हीं के आधार पर अनेक काव्य, नाटक लिखे गये। भक्ति, सम्प्रदाय एवं दर्शन का आधार भागवत् पुराण ही है। पुराणों का धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक एवं शास्त्रीय महत्व है। परं-परामतः पौराणिक साहित्य नितांत अध्ययनीय एवं महनीय है।

पुराणों की संख्या १८ है एवं उपपुराण भी १८ ही हैं। पुराणों के नामों एवं संख्या के लिए यह श्लोक अधिक प्रसिद्ध है—

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं
वचतुष्टयम्।
अनापलिङ्ग कूस्कानि पुराणानि
त्रिपृट विदु ॥

इस श्लोक के आधार पर १८ पुराण निम्नलिखित हैं—

'म' से प्रारम्भ होने वाले २ पुराण— मत्स्य एवं मार्कण्डेय,

'भ' से आरम्भ होने वाले २ पुराण— भविष्य एवं भागवत,

'ब्र' वाले ३—ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त एवं ब्रह्मपुराण,

'व' वाले ४—वामन, वराह, विष्णु एवं वायु तथा,

अ, ना, प, 'लिंग' कू एवं क इन अक्षरों से आरम्भ होने वाले ७ पुराण अर्थात् अग्नि, नारद, पद्म, लिंग, गरुण, कूर्म एवं स्कंद पुराण हैं इन पुराणों का अति संक्षिप्त परि-चय इस प्रकार है—

(१) विष्णु पुराण—यह एक प्रमुख महा-पुराण है। इसमें विष्णु को अवतार मानकर उनकी उपासना का वर्णन किया गया है। इस पुराण को प्राचीन एवं प्रामाणिक माना गया है। इस पुराण के ६ अंश अर्थात् खण्ड है। एवं अध्यायों की संख्या १२६ है।

(२) भागवत् पुराण—यह सबसे प्रसिद्ध पुराण है। इसमें १२ स्कंध है एवं १८ हजार श्लोक है। १० स्कंध में श्रीकृष्ण की रास-लीला एवं क्रीडाओं का विस्तृत विवेचन है। इसकी शैली प्रौढ़ एवं परिष्कृत है। बीच-बीच में गम्भीर दार्शनिक विवेचन है। अतः कहा भी गया है—"विद्यावतां भागवते परीक्षा" इसमें वैदिक एवं लौकिक संस्कृत का समन्वय है।

(३) अग्नि पुराण—यह सबसे महत्वपूर्ण पुराण है एवं इसे विश्व कोष कहा जाता है। इसमें अनेक विषयों जैसे काव्य शास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष कोष वनस्पति शास्त्र इत्यादि विषयों का वर्णन है।

(४) मत्स्य पुराण—यह ऐतिहासिक महत्व का है इसमें आन्ध्र राजाओं की प्रामा-णिक वंशावली दी गयी है। इसमें दक्षिण भारत की वास्तु मूर्ति एवं स्थापत्य कला का सुन्दर वर्णन है। इस पुराण में २९१ अध्याय तथा १२००० श्लोक हैं।

(५) मारकण्डेय पुराण—इस पुराण में इन्द्र, ब्रह्मा, अग्नि और सूर्य को मुख्य देव माना गया है। "दुर्गासप्तशती" इसी का महत्वपूर्ण भाग है जिसमें देवी की स्तुति है।

(६) भविष्य पुराण—इसमें भविष्य-वाणियाँ है। इसमें चारों वर्णों के कर्तव्यों सूर्य, नागदेव एवं अग्नि की पूजा का वर्णन है।

(७) **ब्रह्माण्ड पुराण**—इसमें तीर्थ-महात्म्य और उपाख्यानों का संग्रह है। इसके खात-खण्डों में अध्यात्म रामायण है।

(८) **ब्रह्मवैवर्त पुराण**—इसमें सृष्टि को ब्रह्म का विवर्त माना गया है। इसके चार खण्ड है—ब्रह्मखण्ड, प्रकृतिखण्ड, गणेशखण्ड, कृष्ण जन्म खण्ड।

(९) **ब्रह्म पुराण**—इसको आदि पुराण भी कहते हैं इसमें उड़ीसा के तीर्थों का महत्व बताया गया है।

(१०) **वामन पुराण**—इसमें विष्णु के वामनावतार का वर्णन है।

(११) **वराह पुराण**—इसमें विष्णु के वराह अवतार का वर्णन है। इसमें २१८ अध्याय है। इसमें कुल २४ हजार श्लोक है, इसी में नचिकेता उपाख्यान एवं मथुरा-महात्म्य भी है।

(१२) **वायु पुराण**—इसमें ११२ अध्याय एवं १० हजार श्लोक है, यह पुराण प्राचीन है। इसका भौगोलिक महत्व भी है, इसमें जम्बू द्वीप का वर्णन है, इसमें शिव का वर्णन है एवं श्लोक वेदों में जो रुद्र का वर्णन है, उसमें काफी समानता रखते है। इस पुराण में पाशुपत योग का वर्णन है।

(१३) **नारद पुराण**—यह वैष्णव पुराण है, इसके प्रथम खण्ड में १२५ तथा द्वितीय खण्ड में ८२ अध्याय है।

(१४) **पद्म पुराण**—इसके पाँच खण्ड है, इसमें ५५ हजार श्लोक है। केवल इसी पुराण में राधा को कृष्ण की पत्नी होने का स्पष्ट उल्लेख है। कालिदास के रघुवंश एवं शाकुन्तल नाटक की कथा का आधार यही पुराण है।

(१५) **लिंग पुराण**—इसमें ११ हजार श्लोक है, इसमें शिव के २८ अवतारों का वर्णन है एवं लिंग की पूजा के माहात्म्य का

(१६) **गरुड़ पुराण**—इसमें १९ हजार श्लोक है, इसमें पुराणों से साक्षात् सम्बद्ध कोई विषय नहीं है। गणित, ज्योतिष, श्राद्ध व्याकरण, आयुर्वेद आदि विषयों का वर्णन है। इस पुराण का उत्तर खण्ड प्रेतकल्प है, इसमें मृत्यु के अनन्तर क्या गति होती है, इसका विशद वर्णन है। गर्भावस्था, नरक, यम नगर का मार्ग, प्रेत-लक्षण, प्रेत-योनि से मुक्ति इत्यादि का विशद वर्णन है। इसके उत्तर खण्ड का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ है।

(१७) **कूर्म पुराण**—इसकी पहले चार संहिता थीं, किन्तु अब केवल एक संहिता ब्राह्मी ही प्राप्य है। इसमें ६ सहस्र श्लोक है, इस पुराण में शिव को मानकर ज्ञान प्राप्ति के लिए कर्तव्य पालन एवं समाधि को साधन माना गया है।

(१८) **स्कन्द पुराण**—यह सबसे विशाल-काय पुराण है, इसमें ८१ हजार श्लोक है। इस पुराण की ५ संहितायें है। सनत्कुमारीय, ब्राह्मी, वैष्णवी, शङ्कर और सौर। इसी में काशी खण्ड भी है, जिसमें काशी एवं आस-पास के मन्दिरों का वर्णन है। प्रसिद्ध 'सत्य-नारायण' भगवान् की कथा भी इसी पुराण में है। इस पुराण का दक्षिण भारत में अधिक प्रसार है।

इस प्रकार अति संक्षेप में यहाँ पुराणोंका परिचय दिया गया है। यह परिचय आम-जनता के लिये है। उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि पुराणोंका भारतीय साहित्य में कितना गौरवपूर्ण स्थान है। भारतीय विद्वानों के ज्ञान का यह कोष है। पुराण में

भक्त वत्सल भगवान
और
भक्त नामदेव जी

❀ श्री रामावृक्ष त्रिपाठी

उमा राम सुभाव जेहि जाना,
ताहि भजन तजि भाव न आना।

भगवान शंकर माँ पार्वती से कहते हैं, जिसने राम के स्वभाव को जान लिया वह उनका भजन छोड़कर दूसरे भावों को अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकता। सम्पूर्ण जगत के स्वामी किस प्रकार अपनी प्रभुता भूलकर भक्त की सेवा करते हैं विश्वास करना कठिन है। लेकिन जब गवाह के रूप में नामदेवजी जैसा सन्त हो तो अविश्वास भी कैसे किया जाये।

सन्त नामदेवजी अपने घर की छाजन मरम्मत के लिए फूस काटने गये। फूस को मुट्ठियों में पकड़ा परन्तु करुणापूरित सन्त हृदय हँसिया न चला सका। सर्वत्र हरि दर्शन करने वाले सन्त ने मुट्ठी खोल दी। छाजन मरम्मत करनी है भूल गये और वहीं हरि स्मरण में लीन हो गये। कब दोपहर हुई कब शाम, कुछ खबर नहीं। गयी रात घर पहुंचे। सन्त की हैरानी का ठिकाना न रहा जब उन्होंने देखा घर पर नई और खूबसूरत छाजन पड़ी हुई है। पत्नी से पूछा "छाजन किसने बदली।" पत्नी भी कम विस्मय में थी। "आपको क्या हो गया है? आज आपने पानी भी न लिया—सारा दिन छाजन बनाने में ही जुटे रहे।"

छाजन नामदेव के लिए एक पहेली बन गयी थी। साथ ही भगवान की असीम करुणा तथा भक्त का नौकर बनने की बात उनके मन में आयी। उनकी आँखों में असर आ गया। छाजन भी क्या बनी थी। जो देखता उसे देखता ही रह जाता। देखने वाले के मन में ऐसा छाजन बनवाने की लालसा जगती वे सन्त से बेड़ी (मजदूर) का नाम पता पूछते। नामदेवजी ने ऐसे प्रश्नकर्ताओं को मजदूर का पता एक भजन में बताया।

पाड़ पड़ोसन पूछि ले नामा
काहे पे छान छवाई हों,
तोहते दुगनी मजूरी देहौं
मोको बेगी देहु बताई हों।

ज्ञान-विज्ञान, धर्म-शास्त्र, अवतारवाद, सृष्टि, प्रलय, भूगोल, वंशानुचरित धर्म एवं दर्शन इत्यादि अनेक विषयों का वर्णन है। जिसका विस्तार से लिखा जा सकता है।

वामनपुराण का यह श्लोक पुराणों का महत्त्व बतलाता है—

यथा पापानि पूयन्ते,
गङ्गावारि विगाहनात्।
तथा पुराण श्रवणाद्,
पुरितानां विनाशनम्॥

पुराण पुरुष को प्रणाम करते हुए इस निबंध को यहीं समाप्त किया जाता है। ●

मजदूर (बेढ़ी) को दुनी मजदूरी का लालच दिया गया। पर नामदेवजी बताते हैं बेढ़ी को क्या मजदूरी चाहिए—

मेरो बेढ़ो प्राण अधारा,
वेढ़ी देन न भाई,
बेढ़ी प्रीति मजुरी माँगे
जो कोै छान छवाई।
बेढ़ी के गुण सुन री बाई,
जदित बांध ध्रु छाये हो।
नामे के स्वामी सिया बहोरी,
लंक विभीषण आये हो॥

बेढ़ी (मजदूर) असाधारण है, बाँध दिया ध्रुव को अचल कर दिया, लंका का राज्य विभीषण को दिया।

नामदेव की यशःलता फैलती गई। एक दिन अपने आश्रम में बैठे थे। एक औरत आई, चरणों में माथा नवाया "सौभाग्यवती हो।" भक्त ने आशीर्वाद दिया लोग विस्मय में थे, शायद भक्त को पता न हो। औरत का पति आज ही स्वर्गवासी हुआ है और सती होने जा रही है। स्वामीजी, इसका पति आज ही स्वर्गवासी हुआ है।"

भक्त ने निर्लिप्ता से उत्तर दिया, "ऐसा कैसे हो सकता है मैं कुछ नहीं कहता। मेरे अन्दर रहने वाले सच्चिदानन्द प्रभु ही सच सकते हैं, वे झूठ क्यों कहेंगे?"

सबके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब मृतक जी उठा। नामदेव की यशः पताका बहुत ऊँचाई पर थी। यह उस समय की बात है जब भारत पर मुस्लिम शासक शासन कर रहे थे। धर्म परिवर्तन अपने पूरे जोर पर था। नामदेवजी के पास संदेश पहुँचा इस्लाम स्वीकार करलो। नामदेवजी ने विनम्रता से इन्कार कर दिया। अब नवाब ने अपनी शक्ति प्रदर्शन करने की सोची, उसने नामदेवजी को जेल में डाल दिया। नामदेवजी की माता रोती हुई समझाने पहुँची।

रुदन करै नामे की माय,
राम छाड़ि क्यों न भजसि खुदाय।

नामदेवजी को मां की सीख अच्छी नहीं लगी, उन्होंने मां से सारे सम्बन्ध तोड़ लेने की धमकी दी।

ना मैं तेरा पूतड़ा ना तू मेरी माय,
पिन्ड परे तो हरि गुन गाय।
गंग जमन जौ उल्टी बहै,
नामा हरि हरि कहता रहै॥

मैं तुम्हारा पुत्र नहीं हूँ, तू मेरी माता नहीं हो। यदि यह शरीर भी चला जाय तो भी मैं हरि के ही गुण गाऊंगा। गंगा और जमुना चाहे अपनी धारा बदल ले, परन्तु नामदेव अपनी निष्ठा नहीं बदलेंगे। ऐसी निष्ठा वाले भक्त को भगवान् कब भूलेंगे। भक्त प्रह्लाद को पिता ने हाथियों से रौंदा""परन्तु सर्व समर्थ प्रभुने उन्हें बचा लिया""नामदेव पर भी सुल्तान ने पागल हाथी छोड़ दिया।

करै गजेन्द्र सुन्ड की चोट,
नामा उबरै हरि की ओट।

सुल्तान परेशान""। परन्तु शासक का अहङ्कार इतने से कहाँ शान्त होता। भक्त और भगवान की परीक्षा अभी और होनी थी। सुल्तान ने अपनी शक्ति के मद में भक्त तथा भगवान दोनों को चैलेन्ज दिया—

सुल्तान पूछे सुन वे नामा,
देखूँ राम तुम्हारे कामा।

नामा सुल्ताने बाधिला,
देखु तेरा हरि बीठला।
बिस्मिल गऊ देहु जिलाय,
ना तोर गर्दन मारु जाय॥

सुल्तान ने नामदेव के सामने शर्त रखी, मरी गऊ जिला दो, नहीं तो तुम्हारी गर्दन उड़ा दी जायेगी।

नामदेवजी ने विनम्रतापूर्वक अनुरोध किया कि ऐसा नहीं हो सकता। जो एक बार मर गया वह जीवित नहीं हो सकता। मैं कुछ नहीं कर सकता, वही होता है जो राम करते हैं।

बादशाह ऐसी क्यों हो,
बिस्मिल किया न जीवे कोय।
मेरा किया कछु ना होय,
करिहै राम होय सो होय॥

लेकिन नवाब को तो भगवान् की शक्ति देखनी थी। नामदेव ने भी अपने प्यारे को गुहार लगाई—

पावों बेड़ी हाथों ताल,
नामा गावे गुण गोपाल।
जो अबकी बार न जीवे गाय,
नामदेव की पतिया जाय।

नामदेव से लोगों का विश्वास उठ जायेगा प्रभु! प्रार्थना करते-करते काफी देर हो गई……।

सात घड़ी जब बीती सुणी,
अजहु न आये त्रिभुवन धणी।

नामदेव थकने लगे……। अचानक उनकी आंखें चमक उठीं—

अपने भगत की, की प्रतिपाल,
गरुड़ चढ़ि आये गोपाल।

फिर क्या था? गाय उठ खड़ी हुई। लोगों ने देखा……। इस बीच एक और दुर्घटना घट गई। नवाब का पेशाब बन्द हो गया। उसने सोचा कि दुष्कर्मों का फल ही ऐसा है। वह नामदेवजी के चरणों पर गिर पड़ा। नामदेवजी ने अपना खड़ाऊं दिया। खड़ाऊं से जब बादशाह के सिर पर मारा जाता तो उसका पेशाब उतरता। बादशाह ने भक्त और भगवान के सम्बन्धों को स्वीकार किया उन्हें निर्द्वन्द्व भजन हेतु उनकी स्थायी व्यवस्था कर दी। अब अन्त में नामदेवजी के एक भजन के साथ ही भक्त और भगवान के चरणों में श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ—

जैसी भूखे प्रीति अनाज,
तृषावन्त जल सेती काज।
जैसे कामी कामिनी प्यारी,
वैसी नामे प्रीति मुरारी॥

जैसे मूढ़ कुटुम्ब परायन,
वैसे नामे प्रीति परायन।
नामे प्रीति परायन लागी,
सहज सुभाय भये बैरागी॥

—●●—

★ ईश्वर मुक्ति स्वरूप है, प्रकृति का नियन्ता है। तुम उसे मानने से इन्कार नहीं कर सकते। नहीं। क्योंकि तुम स्वतन्त्रता के भाव के बिना न कोई कार्य कर सकते हो, न जी सकते हो।

गुरु की गरिमा

शिक्षक, आचार्य, उपाध्याय और अध्यापक शब्दों की अपेक्षा लोक-व्यवहार में पढ़ाने वाले व्यक्ति के लिए 'गुरु' का प्रयोग अधिक प्रचलित रहा। गुरु शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की जाती है। उदाहरणार्थ—

(अ) "गरति सिञ्चति कर्णयोर्ज्ञानामृतम् इति गुरुः" अर्थात् जो शिष्य के कानोंमें ज्ञान रूपी अमृत का सिंचन करता है वह गुरु है (गृ सेचने भ्वादि)।

(आ) "गिरति अज्ञानांधकारम् इति गुरुः" अर्थात् जो अपने सदुपदेशों के माध्यमसे शिष्य के अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट कर देता है वह गुरु है (गृ निगरणे तुदादिः)।

(इ) "गृणाति धर्मादिरहस्यम् इति गुरु" अर्थात् जो शिष्य के प्रति धर्म आदि ज्ञातव्य तथ्यों का उपदेश करता है वह गुरु है (गृ शब्दे क्र्यादिः)।

(ई) "गारयते विज्ञापयति शास्त्ररहस्यम् इति गुरुः" अर्थात् जो वेदादि शास्त्रों के रहस्य को समझा देता है वह गुरु है (गृ विज्ञाने चुरादिः)।

शिष्य वर्ग में अपने गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, महेश और परब्रह्म के समक्ष मानने की यह सूक्ति बहुत प्रचलित है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

सब प्रकार के शिक्षकों के लिए गुरु शब्द का प्रयोग सार्वभौमवत् प्रतीत होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥

अर्थात् 'उपनयन की विधि सम्पन्न हो जाने पर गुरु अपने शिष्य को 'भूः भुवः स्वः' इन व्याहृतियों का उच्चारण कराकर वेद पढ़ाये और दन्तधावन एवं स्नान आदि के द्वारा शौच के नियमों को सिखाये तथा उसके हितावह आचार की भी शिक्षा दे।' आचार परम धर्म माना गया है। इसके सम्बन्ध में शास्त्रों में बहुत कुछ लिखा गया है। उदाहरणार्थ—याज्ञवल्क्य-स्मृति तीन प्रधान अध्यायों में विभक्त है। इनमें प्रथम अध्याय आचाराध्याय ही है। आचारादर्श आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी आचार-विषयक सामग्री से परिपूर्ण है।

श्रद्धा का महत्व—पृष्ठ ५ का शेष

स्मृति और समाधि—

यही प्रमुख साधन है। अनुभूत ध्येय भाव का बार-बार यथावत अनुभव करते रहना स्मृति कहलाती है। स्मृति एकाग्र भूमि का एकमात्र साधन है। श्रद्धा और वीर्य दोनों के मिलने से स्मरण शक्ति बलवती हो जाती है और उसमें योग-साधन के संस्कारों का बार-बार प्राकट्य होता रहता है। अतः साधक का मन विषयों से हटकर समाहित हो जाता है इसी को समाधि कहते हैं।

इससे अन्तःकरण स्वच्छ हो जाने पर बुद्धि ऋतम्भरा यानी सत्य को धारण करने वाली हो जाती है। ऐसा होने पर साधक जितेन्द्रिय साधन-परायण और श्रद्धावान साधक ज्ञान को प्राप्त कर परम शान्ति का भागी बन जाता है।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 July 1988

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धयोग प्रशिक्षण केन्द्र, कर्वाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

१८८७

श्री ..... रमेश दण्डोदिया S/o मु. शोभाराम दण्डोदिया
..... बाबा हरीदास का मन्दिर दत्तपुरा
मुरैना म० प्र०

मन्त्र-विज्ञान सद्गुरु से ही सीखें

मन्त्र-विज्ञान एक स्वतन्त्र विज्ञान है जो पुस्तकों के आधार पर नहीं जाना जा सकता। जो लोग किसी मन्त्र को पढ़कर पुस्तकों का अनुगमन करते हैं वे उस खिलाड़ी के समान हैं जो तलवार चलाना न जानने के कारण अपना ही अंग काट लेता है। सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुकों को प्रत्येक मन्त्र के उपदेश की दीक्षा, दीक्षा देने वाले सद्गुरु से मन्त्र का रहस्य समझ कर लेनी चाहिए। क्योंकि मन्त्रों का अनुष्ठान अग्नि से खेलने के सदृश है। मन्त्र विज्ञान को भली प्रकार समझकर अनुष्ठान करने से ही विद्या वीर्यवती होती है।

—स्वामी विष्णु तीर्थ